उदात्त भावना : एक विश्लेषण

लेखक
प्रेमसागर

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ज य पु र

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित :

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : ११.००

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-४

मुद्रक :
झूलेलाल प्रिन्टर्स,
जयपुर-२

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत पीछे १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी।

चंदनमल वैद

अध्यक्ष

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक मूलतः "आधुनिक हिन्दी काव्य में उदात्त-भावना" शीर्षक शोध-प्रबन्ध के रूप में, पंजाब यूनीवर्सिटी, चण्डीगढ़ से, पीएच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुई थी। पर सिद्धान्त-पक्ष की महत्ता को देखते हुए, कुछ मित्रों के सुझाव पर, इसका नाम "उदात्त भावना : एक विश्लेषण" कर दिया गया है। तदनुरूप पुस्तक के कलेवर में भी कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन आवश्यक था। अतः आधुनिक हिन्दी काव्य के विवेचन से सम्बद्ध कुछ सामग्री हटा दी गई है तथा सैद्धान्तिक पक्ष अधिक पुष्ट करने के लिये 'उदात्त और अद्यतन गतिस्थिति' शीर्षक से एक छोटा-सा नया अध्याय जोड़ दिया गया है।

'उदात्त' की चर्चा भारतीय काव्यशास्त्र में, नायक के एक प्रकार के रूप में तो भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी मिलती है पर काव्य-सिद्धान्त के रूप में या 'काव्य की उत्कृष्टता' के मानदण्ड के रूप में, इसकी चर्चा एवं विवेचन का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों और विशेषतः लोंगिनुस (लेंजाइनस), को है। हिन्दी में डॉ० नगेन्द्र ने, लोंगिनुस की पुस्तक 'पेरि इप्सुस' (Peri Ipsus) के अनुवाद ('काव्य में उदात्त तत्त्व') की भूमिका में पाश्चात्य विद्वानों की उदात्त-विषयक धारणाओं का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रो० जगदीश पाण्डेय की पुस्तक, "उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन" (आरा, बिहार-१९६४) तथा डॉ० कृष्णदेव झारी की पुस्तक "रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा" (चण्डीगढ–१९६५) में उदात्त का अपनी ही तरह का विवेचन है। प्रस्तुत लेखक को प्रो० पाण्डेय के विचारों से, इस दिशा में सोचने की प्रेरणा मिली थी; इसके लिये वह उपकृत है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के उदात्त-विषयक चिन्तन को सामान्यतः चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—(क) उदात्त और प्रकृति, (ख) उदात्त और सुन्दर, (ग) उदात्त और शिल्पपक्ष तथा (घ) उदात्त का प्रभाव। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत उदात्त-विषयक, पाश्चात्य-चिन्तन की सीमाओं और असंगतियों पर प्रकाश डाला गया है। पर जैसाकि प्रथम अध्याय में विस्तार से बताया गया है उदात्त का सम्बन्ध प्रकृति के

साथ-साथ सम्पूर्ण मानवीय क्रिया-कलाप (आचरण, चिन्तन और भाव) के ऐसे रूपों से है जो अभिभूत करते हों और उत्कर्षित करते हों। इसी अध्याय में, 'उदात्त और प्रतिभा' शीर्षक से उदात्त के स्रष्टा की प्रकृति को समझने का प्रयास है। 'परम्परा' और 'आधुनिकता' जैसे प्रासंगिक विषयों पर भी, उदात्त के सन्दर्भ में, यथास्थान खुलकर विचार-विमर्श किया गया है। "आधुनिकता : सन्दर्भ हिन्दी काव्य" शीर्षक से परिशिष्ट के रूप में आधुनिकता विषयक धारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास है।

'उदात्त-परम्परा' शीर्षक अध्याय में प्राचीन साहित्य की कतिपय ऐसी असाधारण कृतियों के माध्यम से उदात्त के वैशिष्ट्य को समझने का प्रयास है, जिन्होंने या तो आधुनिक-चिन्तन एवं काव्य को प्रेरित या प्रभावित किया है अथवा जो आधुनिक सन्दर्भ में विशेष अर्थवान हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य की उत्कृष्ट रचनाओं पर ("छायावादी कविता" और "नई कविता") दो अध्यायों में विचार किया गया है। यहाँ प्रमुख लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं को ही पर्याप्त समझा गया है। अन्य लेखकों की कतिपय रचनाओं में भी यत्र-तत्र उदात्त-भावना या उदात्तोन्मुखता हो सकती है; पर सबका विवरण देना, उद्देश्य नहीं है। कवियों या कृतियों का विवेचन करते समय कोई यान्त्रिक पद्धति नहीं अपनायी गयी, क्योंकि यह स्वयं उदात्त की प्रकृति के विपरीत है। उदात्त रचना स्वभावत: परम्परा-प्राप्त नियमों का अतिक्रमण करती है—या तो गहराई एवं व्यापकता में नियमों को नई महिमा अथवा नई अर्थवत्ता प्रदान करती है, या नये नियमों की प्रवर्तिक होती है। अत: उदात्त रचना के प्रतिमान स्वनिष्ठ होते हैं। उन्हें कृति में ही खोजना होता है। इस प्रक्रिया में लेखक को प्रत्येक कृति के विवेचन में नया अनुभव और नया परितोष मिला है।

पुस्तक के लेखन में अनेकों भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता मिली है। लेखक उन सबका हृदय से ऋणी है।

यहीं उन विद्वान मित्रों एवं सहयोगियों का प्रीतिकर, सुखद, स्मरण भी स्वाभाविक है जिनकी सतत प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं परामर्श से पुस्तक का लेखन सम्भव हो सका है। इनमें प्रथम हैं 'प्रोत्साहन-धर्मा' डॉ० वीरेन्द्रराज मेंहदीरत्ता (पंजाब यूनीवर्सिटी, चण्डीगढ़), जिन्होंने अपूर्व आग्रह एवं स्नेह से शोधकार्य के लिए प्रेरित किया; दूसरे हैं, 'परमोत्साही', डॉ० कृष्णलाल शर्मा (गवर्नमेण्ट कॉलेज, लुधियाना) जिन्होंने प्रोत्साहन एवं परामर्श के अतिरिक्त,

टंकन आदि की अशुद्धियां देखने का सारा भार स्वयं लेकर, लेखक को, समय पर अन्तिम अध्याय लिख सकने के लिये स्वतन्त्र कर दिया था; और तीसरे हैं, इङ्गलिश-विभाग के प्रतिष्ठित प्राध्यापक, 'प्रसन्न एवं अचल' (लुधियाना-निवास की उपलब्धि), रामनारायण माटा, जिन्होंने इस बात से आश्वस्त किया कि पाश्चात्य विद्वानों को गलत नहीं समझा गया है। लिखते समय, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से, जिनके साथ हुई चर्चाओं और जिनकी रचनाओं का सबसे अधिक प्रभाव रहा है, वह है, विगत लगभग पच्चीस वर्षों के 'सहचर', सुहृद, श्री यशदेव शल्य (मन्त्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर)। अन्य अनेकों मित्रों की शुभकामनाएं भी सदा साथ रही हैं। अन्त में गुरुवर डॉ० इन्द्रनाथ मदान, (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पंजाब यूनीवर्सिटी चण्डीगढ़) के प्रति लेखक सादर विनत है, जिन्होंने अपूर्व उन्मुक्तता, सहजता और आत्मीयता से पथ-निर्देश करने के साथ-साथ एक "खुलेपन का अहसास" दिया है। यह अपने-आप में एक दुर्लभ उपलब्धि है।

इस संक्षिप्त निवेदन और हार्दिक आभार स्वीकृति के साथ पुस्तक विद्वानों की सेवा में सादर, सविनय प्रस्तुत है।

जनवरी–१, १९७३ प्रेमसागर

विषय-सूची

पुस्तकालय

१

उदात्त का स्वरूप

१. उदात्त का सामान्य एवं काव्य-शास्त्रीय अर्थ

उदात्त शब्द 'दा' धातु से 'उत्' एवं 'आ' उपसर्ग तथा 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। 'दा दाने'—अर्थात् 'दा' धातु दान अथवा देने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'उत्' उपसर्ग का अर्थ ऊपर की ओर जाना, या ऊपर की ओर उठना है। 'आ' उपसर्ग 'चारों ओर से', या 'समुच्चय रूप से', के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'क्त' प्रत्यय 'भाव' या 'होने' अर्थ में है। अतः उदात्त का व्युत्पत्ति-जनित अर्थ हुआ—ऐसा दान (देने वाला) जो समुच्चय रूप से ऊपर की ओर उठाता है, या सभी ओर से उत्कर्षण करता है।

कोष ग्रन्थों के अनुसार उदात्त का सामान्य अर्थ दयालु, त्यागी, दाता, हृदय को छूने वाला, उदार, उत्तम, श्रेष्ठ, सशक्त एवं समर्थ आदि हैं।[1] करुणा-निधान एवं अनुग्राही आदि भी इसके पर्याय हैं।[2] उदात्त का इंगलिश पर्याय 'सब्लाइम' (Sublime) है, जिसका अर्थ है— (क) मानवीय क्रियाकलाप एवं चिन्तन आदि के उच्चतम क्षेत्रों से सम्बद्ध विचार सत्य एवं विषय, (ख) ऐसा व्यक्ति जो अपने स्वभाव, चरित्र, उच्चकुल, प्रज्ञा एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य के कारण दूसरों से बहुत ऊँचे स्थित हो, (ग) और प्रकृति एवं कला के क्षेत्र की ऐसी वस्तुएं जो अपनी महत्ता, प्रभाव शक्ति एवं विस्तार आदि के कारण मन को अभिभूत करती हों एवं संभ्रम उत्पन्न करती हों।[3]

---

[1] (क) मानक हिन्दी कोश, पहला खण्ड, पृष्ठ ३४५।
(ख) वाचस्पत्यम्, द्वितीय भाग, पृष्ठ ११५१–६२।
(ग) शब्द कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृष्ठ २३७।

[2] बृहत् पर्यायवाची कोश, पृष्ठ ज–२२।

[3] दि आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी Vol X पृष्ठ ३१–३२।

वास्तव में, उदात्त का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवीय क्रियाकलाप—आचरण चिन्तन भाव—तथा प्रकृति के ऐसे रूपों से है, जो अपनी लोकोत्तरता में मन को अभिभूत करती हों और उत्कर्षित करती हों।

२. उदात्त की पाश्चात्य परिकल्पना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम उदात्त सिद्धान्त की चर्चा एवं विवेचना का श्रेय लोंगिनुस (या लोंजाइनस) को है। इनके अनुसार 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता' ही उदात्त है। लोंगिनुस ने उदात्त के अन्तरंग तत्त्वों की भी चर्चा की है, परन्तु वह गौण है, ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य नहीं है। फिर भी लोंगिनुस के अनुसार उदात्त आलम्बन में (क) अनन्त विस्तार, (ख) असाधारण शक्ति और वेग, (ग) अलौकिक ऐश्वर्य तथा (घ) उत्कट एवं स्थायी प्रभाव क्षमता होती है। उदात्त की अनुभूति में ऊर्जा, उल्लास और सम्भ्रम आदि का सम्मिलित प्रभाव होता है जिसे विस्मय-विमूढ़ शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।[१]

लोंगिनुस के पश्चात् अनेक दार्शनिकों, सौन्दर्य-शास्त्रियों एव काव्य-शास्त्रियों ने 'उदात्त' के स्वरूप पर विचार किया है। इनमें काण्ट, हीगेल, बर्क, शिलर सान्तायन एवं ब्रेड्ले आदि विद्वान प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने एक ओर मुख्यतः उदात्त आलम्बन (विशेषतः प्रकृति) की 'अपरिमेयता', 'अरूपता', 'विरूपता', एवं 'कुरूपता' की चर्चा की है और दूसरी ओर उदात्त के प्रभाव की अभिभूति-क्षमता, उल्लासमयता एवं भयप्रदता आदि का उल्लेख किया है। इन स्थापनाओं की महत्ता एवं सीमा का विवेचन, इसी अध्याय में 'उदात्त और प्रकृति', 'उदात्त और सुन्दर' एवं 'उदात्त का प्रभाव' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

भारतीय काव्य, काव्य-शास्त्र एवं तत्त्वचिन्तन में उदात्त की अपनी परिकल्पना है, जिसकी परम्परा एवं स्वरूप-विकास के अध्ययन का विशेष महत्त्व है।

३. उदात्त की भारतीय परिकल्पना

उदात्त की परिकल्पना भारत के प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थ ऋग्वेद में भी प्राकृतिक गरिमा एवं दैवी तत्त्वों के चित्रण के रूप में स्थान-स्थान पर मुखरित

---

१ नगेन्द्र, (संपा०), काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ६–१४, दिल्ली–१९६१।

हुई है। अर्य (स्वामी,[1] पालक,[2] उदार,[3] (पूज्य)[4] मंहिष्ठ (पूजनीय,[5] दातृतम)[6] आर्य,[7] करुण,[8] उत्तम,[9] ऊर्द्ध,[10] ऊर्जस्वी (ऊर्जस्व)[11] एवं उदार[12] आदि शब्दों का प्रयोग इसी भावना का द्योतक है।

उदात्त शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग प्रातिशाख्यों[13] में मिलता है। परन्तु वहाँ इसका अर्थ वैदिक ऋचाओं के पाठ में उच्च स्वर से उच्चरित होने वाला स्वर है। भारतीय काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पूर्वरंग के प्रकरण में गन्धर्वों के गान के लिए 'उदात्त' विशेषण का प्रयोग है।[14] वहाँ इसका अर्थ उच्चस्वर में गान भी है, तथा (सम्भवतः उदात्त) लेखक के निगूढ़ गर्व को अभिव्यक्त करने वाला प्ररोचना का प्रकार भी। भारतीय काव्य-शास्त्र, नाटकों एवं महाकाव्यों में विख्यात 'उदात्त नायक' के स्वरूप का विवेचन भी 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। (नायक के चार प्रकारों में 'धीर' विशेषण सामान्य है। यथा—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त और धीरो-द्धत। यहाँ 'धीर' का अर्थ है 'स्वभावतः[15]!' अतः नायक के विच्छेदक प्रकार 'उदात्त' आदि हैं 'धीर' नहीं।

---

1 ऋग्वेद संहिता, १.३३.३, (मण्डल, सूक्त, ऋचा), प्रथम भाग, पृष्ठ २४४।
2 " " १.८१.६, प्र० भाग, पृष्ठ ५०८।
3 " " २.२३.१३, द्वि० भाग पृ० ६४।
4 " " ५.३३.६, " " पृ० ८२०।
5 " " ४.३१.२, " " पृ० ६२८।
6 " " ८.४.१८, तृ० भाग, पृ० ५५३।
7 " " १.१०१.३, प्रथम भाग, पृ० ६३१–३२।
8 " " १.१००.७, प्रथम भाग, पृ० ६१२।
9 " " ३.५.१० द्वितीय भाग, पृ० २०१।
10 " " १.२८.१ प्रथम भाग, पृ० २०७।
11 " " १०.५१.८ चतुर्थ भाग, पृ० ४५५।
12 " " १०.४५.५ चतुर्थ भाग, पृ० ४३१।
13 (क) ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३।४, ३।७, ३।११।
(ख) तैत्तरीय प्रातिशाख्य १।४२, १।४६, ५।१३, १०।१६ आदि।
14 नाट्यशास्त्रम् Vol–I, पंचम अध्याय, पृष्ठ २४५।
15 द्विवेदी, हजारी प्रसाद, भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा और दशरूपक, पृष्ठ ४०, दिल्ली १९६३।

के शब्दों में—'जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र धर्म है। क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र धर्म एकान्तिक नहीं है। उनका सम्बन्ध लोक रक्षा से है। ....मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।[1] गीता (१८–४३) के अनुसार 'शौर्य, तेज, धैर्य, युद्ध में अपलायन,' दान एवं ईश्वर भाव (राजा की सी प्रकृति), स्वाभाविक क्षात्र कर्म हैं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या उदात्त नायक का क्षत्रिय होना अनिवार्य है। उत्तर स्पष्ट है—कदापि नहीं। उदात्त जाति नहीं है, यह तो उत्कृष्ट कोटि के वैशिष्ट्य का अभिधान है। अतः जिस किसी व्यक्ति में ये गुण असामान्य मात्रा में होंगे, वह उदात्त कहलाएगा, जैसे क्षत्रियेतर होते हुए भी महात्मा गान्धी। उदात्त आचरण की कसौटी हैं—लोक-संग्रह[2] और उत्साह। पर लोक-सग्रह, उदात्त व्यक्ति की वृत्ति है, व्यवसाय नहीं, स्वभाव है, पेशा नहीं। जो आचरण लोकापगामी है वे कदापि उदात्त की परिधि में नहीं आ सकते, चाहे वे क्षत्रिय जाति में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा किए गए हों (जैसे कौरवों के कृत्य)।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मात्र नियम-पालन ऐसा आचरण नहीं है जिसे उदात्त कहा जा सके। उदात्त व्यक्ति नियमों के पराकाष्ठा तक पालन या अपालन में अपनी आत्मा की लोकोत्तरता झलका देता है, जिससे यदि नियम एक ओर एक अनोखी महिमा से मण्डित हो जाते हैं, उन्हें नए आयाम मिलते हैं, तो दूसरी ओर अप्रतिहत जीवन की ऊर्जा एव गतिमयता के सामने उनकी असारता एवं इयत्ता प्रकट हो जाती है, नए नियम जन्म लेते हैं। अतः औदात्य नियम-पालन में नहीं, नियमों के प्रयोग में है, अर्थात् महत्ता नियमों की नहीं अपितु नियमों के पालयिता की है।

(ख) उदात्त चरित्र

उदात्त-चरित्र सर्वतोमुखेन सर्वोत्कृष्ट होता है। उसमें 'शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप माधुर्य, तेज के साथ

---

[1] शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ ४२–४३, प्रयाग—१९५०।

[2] उदात्त की लोकसंग्रह–सापेक्ष्यता पर प्रस्तुत अध्याय का 'उदात्त और प्रतिमा' शीर्षक—अंश द्रष्टव्य है। पृष्ठ २५–२६

कोमलता, सुखभोग के साथ पर-दुःख-कातरता'[1] आदि विरुद्धों का अद्भुत सामंजस्य होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो उसमें पाँचों कोषों या कलाओं का असामान्य मात्रा में विकास होता है। (क) वाक् (अन्न या भूत) कला (या कोष) के विकास का लक्षण है भौतिक समृद्धि और वाक् शक्ति। (ख) प्राण कला के विकास में बल, शौर्य, क्रिया-शीलता आदि का ग्रहण होता है। (ग) मन (मनोमय कोष या कला) के विकास का लक्षण मनस्विता, उत्साह-शीलता, मनोमोहकता आदि हैं। परदुःख कातरता एवं द्रवणशीलता भी मन के विकास के अन्तर्गत आते हैं। (घ) विज्ञान से अभिप्राय संसार-ग्रन्थि-मोचक आत्म-विज्ञान से है। इसमें तत्त्व ज्ञान कर्तव्याकर्तव्य-विवेक आदर्श-पालन एवं आदर्श स्थापन आदि का भी ग्रहण हो जाता है। (ङ) पांचवीं कला, आनन्द परम प्रेमास्पदत्व है। आनन्द से अभिप्राय निवृत्ति-जन्य निश्चेष्टावस्था से नहीं, अपितु कर्म में प्रवृत्त रह कर भी कर्मफल से निश्शंक एवं निर्लिप्त रहने की लोक-संग्रहात्मिका वृत्ति से है।[2]

जिस व्यक्ति में पाँचों कलाओं या कोषों का असामान्य मात्रा में विकास हो उसे उदात्त-चरित्र का उत्कृष्टतम रूप कहा जा सकता है। वैसे तो पाँचों कलाएं एक ही व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष हैं, फिर भी कोटि क्रम की दृष्टि से वाक्कला (अन्नमय कोष) से आनन्दकला (आनन्द-मय कोष) तक क्रमिक उत्कर्ष देखा जा सकता है। इसी के आधार पर उदात्त चरित्र की उत्कृष्टता का कोटिक्रम निर्धारित किया जा सकता है।

प्रथम तीन कलाओं (वाक्, प्राण, मन अथवा समृद्धि, शौर्य एवं वीरता—वीरोद्धतता आदि) का विकास बहुत बार, संकुचित स्वार्थपूर्ति में प्रवृत्त, अधिनायकों में भी देखा जा सकता है। पर उन्हें उदात्त नहीं कहा जा सकता। औदात्य की कसौटी लोकसंग्रह है। राम आदि का भी औदात्य जगत् पालनार्थ दुष्ट-निग्रह में है, मात्र भूमि लाभ (लंका-विजय) आदि के कारण नहीं।[3]

---

१ शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृष्ठ ४२। प्रयाग—१९५०।

२ चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २४०–४३ पटना—१९६०।

३ धनंजय, दशरूपक (द्वितीय प्रकाश के चतुर्थ श्लोक पर धनिक की टिप्पणी) —पृष्ठ ५७, बम्बई—१९२७।

५. उदात्त-चिन्तन

विचार, चिन्तन एवं परिकल्पना-क्षमता मनुष्य का अतिरिक्त गुण है। यह अतिरिक्त गुण उसे सृष्टि के अन्य प्राणियों से भिन्न सिद्ध करता है। इसी के सहारे मनुष्य वर्तमान का अतिक्रमण करता है। उसकी गति अतीत में अनादि तक एवं भविष्य में अनन्त तक हो जाती है। यही गुण उसके आचरण को आचार......सदाचार या दुराचार......बनाता है। आचार और विचार अन्तरावलम्बी हैं। अतः उदात्त के संदर्भ में जितनी महत्ता आचरण की है, उतनी ही विचार, चिन्तन अथवा परिकल्पनाओं की।

जो चिन्तन व्यक्ति को उसके सीमित 'स्व' से जितना ही ऊपर उठाता है, क्रमशः परिवार, जाति, प्रान्त, राष्ट्र आदि की सीमाओं का अतिक्रमण करने में सहायता देता है, जितना ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि की भावनाओं को उद्बुद्ध करता है और जीवन को नए-नए सन्दर्भों में नई-नई अर्थवत्ता देता है, उतना ही वह उदात्त है। यहाँ चिन्तन क्षेत्र की ऐसी कतिपय परिकल्पनाओं की चर्चा अपेक्षित है, जो युगों से उदात्त का उद्गमस्थल एवं प्रेरणा स्रोत रही हैं अथवा हैं।

(क) परमतत्त्व

चिन्तन, विचार एवं संवेगात्मक अनुभूति के क्षेत्र की प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चुनौती सृष्टि रहस्य है। इस नानाविध रूप व्यापारात्मक, सतत परिवर्तनशील सृष्टि-प्रक्रिया के पीछे संगति एवं व्यवस्था के मूलाधार अथवा **सर्वोच्च नियामक तत्त्व** की परिकल्पना मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उपलब्धि है। इसे ही परमतत्त्व, परमब्रह्म, परमपुरुष अथवा परमआत्मन् (परमात्मा) आदि नामों से अभिहित किया जाता है। परम तत्त्व हमारे जीवन का वह आत्यन्तिक और एकान्त तत्त्व है, जोकि व्यक्तित्व सम्पन्न है और सारे विवेकानुमोदित मूल्यो का जनक है।[1] इस परिकल्पना ने युगों से धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, तथा साहित्य एवं कला के क्षेत्रों की उत्कृष्टतम सांस्कृतिक महत्त्व की उपलब्धियों को अनुप्राणित किया है।

(ख) दैवी शक्तियाँ

परमतत्त्व की परिकल्पना के साथ-साथ सूर्य, चन्द्र, वायु-अग्नि आदि प्रकृति के विविध रूपों के पीछे दैवी शक्तियों एवं देवताओं की परिकल्पना है।

---

[1] दार्शनिक, त्रैमासिक (जनवरी, १९५५), पृष्ठ २८, (लेख 'परमतत्त्व',—लेखक डा० ना० वी० जोशी)।

शुद्ध निर्विशेष परमतत्त्व तो परमोदात्त है ही, परन्तु आभिजात्य साहित्य में उसकी महिमा का चित्रण देवताओं के रूप में होता है।[१] देवी शक्तियां शुभ और मैत्रीपूर्ण अवश्य हैं किन्तु इसके साथ ही नैतिक आचरण के विषय में कठोर भी हैं।[२] इसीलिए श्रेष्ठ आचरण की प्रेरिका हैं। परन्तु देवता स्वयं अनुकरणीय नहीं हैं, वे मनमानी भी कर जाते हैं, जो उदात्त नहीं है। 'देवा उद्धता एव'।

संकीर्ण स्वार्थपूर्ति के हेतु देवोपासना, दूसरों के अपकार साधन के लिए देवस्तुति, उदात्त नहीं है। स्वोत्कर्ष एवं सर्वोत्कर्ष से सम्बद्ध देवस्तुति एवं देवानुमोदित आचरण ही उदात्त कहला सकते हैं।

(ग) अवतार

काव्य एवं कलाओं के क्षेत्र में औदात्य की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिकल्पना मनुष्य-ईश्वर अथवा परमेश्वर के मानवावतार की है। (मानवेतर अवतार भी उदात्त के प्रेरक हैं) यह अवतार सप्रयोजन होता है। 'सज्जनों का परित्राण, दुराचारियों का विनाश, एवं धर्म की संस्थापना[३]—ये महान उद्देश्य, अवतार के हेतु हैं। धर्माचरण ही सदाचरण है और अधर्माचरण दुष्कर्म या दुराचार। अतः अवतार धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोजन धर्म की संस्थापना है। सज्जनों का परित्राण एवं दुर्जनों का विनाश इसी का अंग है। (भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा में 'लीला का विस्तार' भी अवतार का हेतु बतलाया गया है।)[४]

(घ) धर्म

'धारणाद् धर्मः' अर्थात् धर्म वह तत्त्व है, जो (सृष्टि-प्रक्रिया का) धारण करता है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार' जिससे 'अभ्युदय (उन्नति) और उसके निःश्रेयस् (कल्याण) की सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं। अर्थात् जो ऊपर उठाता जाए, और उन्नति को बनाए रखे, कभी नीचे न आने दे, वही धर्म

---

१ Friedrich, C. J. (Ed) The Philosophy of Hegel, Page—348 New York—1953-54.

२ हिन्दी साहित्य कोश, भाग–१, पृष्ठ २४, द्वितीय संस्करण।

३ भगवद् गीता, ४–८, पृष्ठ ६३।

४ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्य कालीन–धर्म-साधना, पृष्ठ १२३। —इलाहाबाद,—१९६२।

है।[1]' धर्म के विरुद्ध जो कुछ है, वह अधर्म है। जिस प्रकार जीवन को आगे बढाना और बनाए रखना धर्म का अटल सिद्धान्त है, उसी प्रकार जीवन को पीछे ढकेलना और गिरा देना अधर्म (धर्म के अभाव) का अटल परिणाम है।[2]

धर्माचरण अथवा धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर मनु ने इस प्रकार प्रकाश डाला है—'धृति (किसी भी परिस्थिति में न घबराना) क्षमा (अपने तथा दूसरों के मन की चंचलताओं को यथार्थ रूप में देखना), दम (प्रलोभनों के रहते भी मन की दृढ़ता), अस्तेय (दूसरों की वस्तुओं को अग्राह्य समझना), शौच (आभ्यन्तरिक और बाह्य पवित्रता), इन्द्रिय संयम, बुद्धि विद्या, सत्य, अक्रोध (क्रोध न करना), ये दश धर्म के लक्षण हैं।[3] आधुनिक मान्य विचारकों के अनुसार 'धर्म मानवीय अनुभवों का एक ऐसा तत्त्व है जो सदा ऊर्ध्वमुखी रहा है।' सांख्य भी यही कहता है कि 'धर्मेणोर्ध्वगमनम्'।[4] इस तरह व्यापक अर्थ में धर्म एक उदात्त धारणा है और धर्म की संस्थापना के हेतु मानव रूप में अवतरित ईश्वर उदात्त का प्रकृष्टतम उदाहरण है। लीला का प्रयोजन लीला मानने की परिकल्पना अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव लीला काव्यों की अपेक्षा औदात्य की दृष्टि से चरित-काव्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवनानन्द का पर्याय होने पर लीला भी उत्कर्षक हो जाती है।

धर्म के नाम पर मात्र बाह्याचार, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता आदि संकीर्ण वृत्तियाँ लोक संग्रह के विपरीत जाती हैं, अतः उदात्त की परिधि में नहीं आतीं। धर्म एवं धर्म संस्थापक (परमतत्त्व) की परिकल्पना मे उदार दृष्टि, उसकी अनन्तता एवं अनन्त रूपता में विश्वास, उसकी सिद्धि की विभिन्न पद्धतियों में आस्था आदि धारणाएं ही धर्म का उदात्त पक्ष हैं।

(ङ) महामानव

परमतत्त्व या ईश्वर के मानवावतार से थोड़ा मिलती-जुलती महामानव या लोकोत्तर मानव की परिकल्पना है। वैसे तो ईश्वर सभी भूतों[5] के हृदय

१　मिश्र, जनार्दन, 'भारतीय प्रतीक विद्या, पृष्ठ २०, पटना—१९५९।

२　वही०।

३　वही.... पृष्ठ वही

४　शास्त्री, विद्याधर, 'धर्म' दार्शनिक त्रैमासिक, पृष्ठ ४५, नवम्बर १९५९।

५　भूत सृष्टि तीन प्रकार की है·········१. असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि।
२. अन्तःसंज्ञ—जैसे वृक्ष आदि।
३. ससंज्ञ—जैसे पुरुष, पशु आदि।
अग्रवाल, वासुदेवशरण—'वेदविद्या' पृष्ठ ७१, आगरा (१९५९)।

में निवास करता है।[१] परन्तु जहाँ-जहाँ 'श्री', 'विभूति' एवं 'ऊर्जा' (अधिक मात्रा में) पाई जाती है, उसे भगवान् के तेज अंश से उत्पन्न समझना चाहिए।'[२] महामानव इसी तेज अंश से उत्पन्न व्यक्ति है। किसी महदुद्देश्य से अनुप्राणित ऐसे व्यक्ति जाति, धर्म, देश एवं मानवता को नया सन्देश, चिन्तन को नए आयाम एवं जीवन्त गत्यात्मकता दे जाते हैं। शताब्दियों तक लोग इन महामानवों के चरित्र का स्मरण कर उत्कर्षणानुभव करते रहते हैं। (अशोक, अकबर, कबीर, तुलसी एवं गाँधी ऐसे ही महामानव हैं।)

(च) अध्यात्म–पुनर्जन्म–कर्मफल

पाश्चात्य एवं पार्वात्य, विद्वान इस बात में सहमत हैं कि भारतीय चिन्तन पद्धति में पंचभूतों से बने शरीर के अतिरिक्त आत्मा की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया गया है।[३] आत्मा संम्पूर्ण चराचर में व्याप्त है। शरीर बदलता रहता है परन्तु आत्मा अजर अमर है। इसी विश्वास को अध्यात्म कह दिया जाता है। श्री अरविन्द ने भारतीय एवं यूरोपियन संस्कृति का विच्छेदक आधार इसी अध्यात्म-निष्ठा को बतलाया है।[४] इसी कारण भारतीय धर्म-परिकल्पना में बाह्याचार को महत्त्व नहीं दिया गया। समदर्शिता को आदर्श बताया गया है। इस प्रकार आध्यात्मिकता से जहाँ एक ओर कर्त्तव्य-निष्ठा एवं उदार दृष्टि जैसी उदात्त धारणाएँ आई, वहीं पुनर्जन्म एवं कर्मफल में विश्वास जैसी धारणाएं भी आई जिनका औदात्य सर्वथा असंदिग्ध नहीं। कर्मफल का अभिप्राय है कि जीव अपने पूर्व संचित कर्मों (आचरण) के आधार पर ही विभिन्न योनियों में चक्कर काटता है। उसका चरित्र, भाग्य, वर्ण एवं सुख-दुःख आदि उसके कर्मों का फल है।[५]

---

१ "ईश्वर : सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" भगवद्गीता १८-६१।

२ गीता, १०४१।

३ (क) चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, —पृष्ठ १६६-६८। पटना—१९६०।

(ख) Basham, A. L. The Wonder That was India, Page—322 Bombay—1963

४ Sri Aurobindo. The Foundations of Indian Culture, Page—137 New York—1953

५ Basham, A L. The Wonder That Was India, Page—322. Bombay, 1963.

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने पुनर्जन्म एवं कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास को भारतीय साहित्य की प्राण शक्ति कहा है।[१] उनका कहना है—"समस्त भारतीय साहित्य में पुनः-पुनः कर्मबन्ध से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। समस्त शास्त्र अपना अन्तिम लक्ष्य जन्म कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने को कहते हैं। इस सिद्धान्त का जितना व्यापक और जबरदस्त प्रभाव हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-साहित्य और हिन्दू जीवन पर पड़ा है, उतना किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त का किसी भी और जाति पर पड़ा है या नहीं, नहीं मालूम।"[२] औदात्य के संदर्भ में यह सिद्धान्त या परिकल्पना कुछ सीमा तक ही महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक तो यह सिद्धान्त मनुष्य को दुष्कर्म अथवा अपकर्षात्मक आचरण से निवृत्त करता है, वहाँ तक तो ठीक है, परन्तु जहाँ यह उसे "जागतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन" बनाता है अथवा "अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने से" विरत करता है, वहाँ यह नितान्त हेय है, क्योंकि 'जब विद्रोह करने की भावना दब जाती है, तो जाति स्थिर भाव से अधःपतन की ओर बढ़ती है।[३] इस तरह की भावना से अनुप्राणित साहित्य उदात्त साहित्य नहीं कहला सकता।

सौभाग्यवश, शास्त्रों में कर्म को बन्धन ही नहीं कहा गया अपितु कर्म एवं कर्त्तव्यनिष्ठा की महत्ता एवं धर्मानुमोदित युद्ध की सर्वश्रेयता भी प्रतिपादित की गई है।[४] स्वयं पूर्ण ब्रह्म कर्म में प्रवृत्त है।[५] आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक ने गीता की व्याख्या द्वारा कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है।[६] उदात्त के संदर्भ में यही ग्राह्य है।

---

१ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, 'विचार प्रवाह', पृष्ठ ३१

२ वही० पृष्ठ ३२।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, 'विचार प्रवाह', पृष्ठ ४०, बम्बई १९५९।

४ (क) 'नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'। भगवद्गीता, ३-८।
(ख) 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते'। भगवद्गीता, २-३१।

५ 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन्'।
ना नवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि। वही०, ३-२२।

६ तिलक, लोकमान्य बालगंगाधर, "श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य"।

(छ) पुरुषार्थ चतुष्ट्य

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय चिन्तन-क्षेत्र में पुरुषार्थों की परिकल्पना को महान् चिन्तन एवं धनात्मक (पौज़िटिव) कार्य कहा है।[1] ये पुरुषार्थ चार हैं—

१. धर्म,
२. अर्थ,
३. काम और
४. मोक्ष।

धर्म जीवन का नियामक है, अर्थ साधन है, काम प्रेरक है और मोक्ष साध्य है। इसीलिए मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा जाता है। मोक्ष या 'मुक्ति का उद्देश्य अज्ञान, पाप तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, परन्तु परमपद का पुर्नलाभ भी है। आत्मा मुक्त हो कर ब्रह्म में लीन नहीं होता, किन्तु ब्रह्म-रूप, ब्रह्म-रस, तथा ब्रह्म-गन्ध होता है।[2] यह मुख्यतः साधना-क्षेत्र का विषय है और शताब्दियों तक उदात्त आचरण का प्रेरक रहा है।

अर्थ और काम, कर्म क्षेत्र के एवं कामना के मुख्य विषय हैं। धर्म नियामक पुरुषार्थ है, अतएव प्रथम पुरुषार्थ है। (धर्म पर विचार किया जा चुका है। काम पर 'उदात्त-भाव' में प्रेम के अन्तर्गत विचार किया जाएगा)।

उदात्त चरित्र सामान्यतः अर्थ के सन्दर्भ में निस्पृह होता है। परन्तु अर्थ जीवन का प्रधान साधन है, अतः इसकी उपेक्षा भी स्तुत्य नहीं है। महाभारत में धन को परम धर्म कहा गया है, धन में सब कुछ प्रतिष्ठित है।[3] धन या अर्थ साधन है, साध्य नहीं, अतः उदात्त चरित की अर्थ में प्रवृत्ति संग्रह के लिए नहीं त्याग के लिए या लोक संग्रह के लिए होती है।

इस तरह पुरुषार्थ चतुष्ट्य की परिकल्पना प्रवृत्तिमूलक, महान् परिकल्पना है, एवं सर्वोत्कर्षण प्राप्य होने पर उदात्त कहलाती है।

---

१ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, 'विचार प्रवाह', पृष्ठ ४०, बम्बई—१९५९।

२ कविराज श्री गोपीनाथ, 'भारतीय संस्कृति और साधना' प्रथम खण्ड, —पृष्ठ ४८०, पटना—१९६३।

३ देवराज, भारतीय संस्कृति, (महाकाव्यों के आलोक में) —पृष्ठ ३५, प्रयाग—१९६१।

(ज) मानव-केन्द्रित-चिन्तन (या आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में मानवतावादी दृष्टि)

मध्ययुग तक आचार चिन्तन एवं जीवन-मूल्यों का स्त्रोत परमतत्त्व अथवा दिव्य सत्ता थी। राजा, महाराजा ईश्वरांश होने के कारण भूपेश भी थे और नरेश भी। वैज्ञानिक युग की महान् उपलब्धियों ने इन धारणाओं में आमूल परिवर्तन कर दिया। 'विकास सिद्धान्त' ने क्रमशः विकसित नाना रूपात्मक सृष्टि में मनुष्य को सर्वोत्तम सिद्ध कर दिया। यहीं से मानव-केन्द्रित-चिन्तन अथवा मानवतावादी दृष्टि प्रधान हो गई। आचार्य द्विवेदी ने इस दृष्टि को 'आधुनिक संस्कृति' का मेरुदण्ड कहा है।[1]

मानवतावादी दृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय व्यापारों का अन्तिम लक्ष्य स्वयं मानव है। 'मनुष्य में जो पाशविक है और जो दिव्य है, उन दोनों के मध्य में कुछ ऐसा है, जो पूर्णतः मानवीय है और उसी को नैतिकता, कला, सौन्दर्य-बोध तथा अन्य आचार-विचार का प्रतिमान मानना चाहिए।'[2] इस दृष्टि के फलस्वरूप परमतत्त्व एवं परम पुरुषार्थ (मोक्ष) में आस्था गौण हो गई। 'मनुष्य को इसी मर्त्य काया में सुखी बनाने का संकल्प[3]' प्रधान हो गया। सैद्धान्तिक स्तर पर यह स्वीकारा गया कि श्वेत हो या श्याम, गौर हो या पीत, मनुष्य मूलतः एक है। इस चिन्तन से प्रेरित काव्य में आशा, उल्लास, भविष्य में आस्था, स्वातन्त्र्य-संघर्ष आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जो उदात्त की परिधि में आती हैं। जड़ यान्त्रिकता के विरुद्ध विद्रोह, नूतन अध्यात्म अथवा सर्व चेतनावाद (Pantheism), उद्दाम स्वातन्त्र्य, प्रेम आदि भावनाओं से अनुप्राणित अनेकों रचनाएं उदात्त कोटि की हैं। परन्तु स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृंखलता तथा छिन्न-मूलानुभूति से उत्पन्न, घोर निराशा की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध, रचनाएं उदात्त के अन्तर्गत नहीं आएंगी, क्योंकि वे लोकापगामी हैं, अपकर्षण करती हैं।

(झ) यथार्थ का आग्रह

चिन्तन के मानव-केन्द्रित होने पर भी स्वच्छन्दताकाल में मनुष्य का चित्रण, भावोच्छ्वास-मय काल्पनिकता से युक्त एवं आदर्शानुप्राणित ही रहा।

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 'हिन्दी साहित्य' पृष्ठ ४३१, दिल्ली १९५२।

२ हिन्दी साहित्यकोश, (द्वि० संस्करण) पृष्ठ ४०४–४०५।

३ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 'हिन्दी साहित्य', पृष्ठ ४३१, दिल्ली—१९५२।

'धरती के मनुष्य' से यह दूर ही रहा। इसके विरोध में यह आग्रह प्रधान हो गया कि मनुष्य को उसके यथार्थ रूप में चित्रित किया जाए। यथार्थ से अभिप्राय है .... जो है, जैसा है उसका यथासम्भव तद्वत् चित्रण। 'न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काटछाँट कर उपस्थित करना[1]।' अतिरंजित भावोच्छ्वास-मूर्ति मानव की अपेक्षा यथार्थ मानव, लघु मानव, को साहित्य में प्रतिष्ठित करना क्रान्त-दृष्टि का परिणाम है, लघुमानव की अपनी समग्रता' में महत्ता का स्वीकार है।

पुरातन साहित्य में प्रतिगामी शक्तियों से जूझता हुआ उदात्त नायक (महामानव) चित्रित किया जाता था। स्वच्छन्दतावादी साहित्य में असत् पर सत् की विजय के रूप में, और हृदय परिवर्तन आदि में, उदात्त का चित्रण होता है। बहुत बार यह आरोपित या कल्पित इच्छापूर्ति का परिणाम होता है। पर यथार्थ के आग्रह से प्रेरित रचनाओं में व्यक्तिमानस में, एवं व्यक्ति के विविध कृत्यों के रूप में, उदात्त एवं अनुदात्त वृत्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है, और उदात्त की सदा विजय ही नहीं होती परन्तु उसकी पराजय में भी अनोखा चमत्कार और पराजित करने वाली शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा होती है। पर जहाँ यथार्थ के नाम पर ऐसी घोर निराशा का चित्रण है जो सत्कर्म-मात्र से विरत करे वहाँ औदात्य नहीं है। निराशा या असफलता वहीं उदात्त होती है जहाँ वह मनुष्य की अतिक्रामी वृत्ति की परिचायिका हो या अतिक्रमण के लिए प्रोत्साहित करे। यथार्थवाद के नाम पर रचित प्रकृतवादी रचनाओं में उदात्त की संभावना स्वल्प है। (यथार्थवादी चिन्तन का प्रभाव कथा-साहित्य में ही अधिक प्रतिफलित हुआ है।)

(ञ) मनोविश्लेषण अथवा अन्तर्मन का यथार्थ

मनोविश्लेषणशास्त्र ने बताया कि "**यथार्थ**" मनुष्य के बाह्य क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं है। मानव-मन का नब्बे प्रतिशत भाग अज्ञात है अथवा अवचेतन एवं अचेतन का अंश कहलाता है। राज्य, धर्म एवं समाज आदि के भय से दमित वासनाएं अवचेतन एवं अचेतन में जा छिपती हैं। परन्तु ये प्रकाश माँगती हैं। चेतन-मन प्रहरी है, अतः जेल से भागने वाले कैदियों की तरह, रूप बदल कर समाज-ग्राह्य पवित्रता के एवं काव्य, कला आदि के

---

१ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४२७,
—दिल्ली—१९५२।

परिधान में ये वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। यही दमित वासनाओं का उदात्तीकरण है। और ऐसा साहित्य निस्सन्देह पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह आत्यन्तिक सत्य है? क्या मानव का सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास—धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान तथा कला एवं साहित्य दमित वासनाओं का समाज-ग्राह्य रूपों में प्रस्फुटन मात्र है? मात्र रुग्ण-मन का क्रीड़ाविलास है? फ्रायड़ स्वयं ऐसा समझने का साहस नहीं कर सका।[1] रोजेर्स फ्राई ने ठीक ही लिखा है कि फ्रायड़ के सिद्धान्त केवल अधम साहित्य की व्याख्या करते हैं। उत्तम साहित्य उनकी पहुँच से परे है।[2]

फ्रायड़ के **'उदात्तीकरणसिद्धान्त' एवं औदात्य में अन्तर है।** एक में अवचेतन का चेतन के 'भय' से समाज-ग्राह्य रूपों में प्रकाशन है और दूसरे में चेतन मन का 'निर्भय' भाव से समाज-स्वीकृत रूपों की सीमाओं का विस्तारण या अतिक्रमण है। एक में समाज के भय तथ्य के रूपान्तरण का प्रयास है, दूसरे में तथ्य के निर्भय साक्षात्कार एवं स्वीकृति से सामाजिक नियमों को नए आयाम देने का उपक्रम है। एक कमजोर और कायर की परिवेश के अनुरूप ढलने की विवशता का परिणाम है और दूसरा वीर एवं साहसी की परिवेश को बदलने की स्वयं-स्वीकृत कर्त्तव्य-भावना का परिचायक है। एक में व्यक्ति अन्धवृत्तियों का दास है, दूसरे में सचेत स्वामी।

मानव-सत्य के विख्यात-व्याख्याता आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने मानव-मात्र पर इस सिद्धान्त को लागू करने की वृत्ति का दर्प-दीप्त शब्दों में प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि—"इससे मनुष्य की नियतिदासता को बढ़ावा मिलता है, जो असत्य है; इससे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की नगण्यता सिद्ध होती है, जो झूठ है, इससे मनुष्य की युक्ति-तर्क-प्रवण प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होता है, जो एकदम गलत है; इससे मनुष्य की उस दुर्जय शक्ति का अपमान होता है, जिसमें प्रवृत्ति को अपने अनुकूल करने का सकल्प है, जो अशोभन है; और सब से बढ़ कर मनुष्य के उन समस्त सद्गुणों का तिरस्कार होता है, जिन्हें संयम कहा जाता है, विवेक कहा जाता है, साधना कहा जाता है, आत्मदान कहा जाता है—जो अवांछनीय है।[3]"

---

१ सिन्हा, सावित्री, (संपा०) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा
—पृष्ठ ३३३, दिल्ली (प्र० व० अ०)॥

२ वही०, पृष्ठ ३२८।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, 'विचार प्रवाह' पृष्ठ २१६, बम्बई—१६३६।

अतः 'मनोविश्लेषण शास्त्र' से सम्बद्ध **चिन्तन उदात्त-साहित्य का प्रेरक** नहीं हो सकता।

(ट) सामाजिक यथार्थ अथवा मार्क्सवादी चिन्तन

मानव-केन्द्रित चिन्तन का प्रतीक मानवतावाद व्यावहारिक स्तर पर संकुचित राष्ट्रीयता, रंगभेद एवं वर्ग वैषम्य से ऊपर न उठ सका। तभी राजनीति के क्षेत्र में क्रान्ति का प्रवर्तक, मार्क्सवाद साहित्यकारों का प्रेरणा-स्रोत बना। साहित्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को सामाजिक यथार्थवाद एवं 'प्रगतिवाद' भी कहा गया। सैद्धान्तिक स्तर पर इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मानव की परिकल्पना है, मानव-मात्र की मुक्ति का उद्घोष है, शोषण को मिटा देने का संकल्प है और पृथ्वी को स्वर्ग बना देने की प्रतिज्ञा है। निस्सन्देह उदात्त-चिन्तन का यह प्रकृष्ट स्वरूप है। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर प्रगति के पक्ष धरों में संकीर्णता असहनशीलता, मानसिक दासता और परमुखापेक्षिता इस सीमा तक है कि उदात्त वृत्तियों की संभावना कम हो गई। "औदात्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है[1]।" परमुखापेक्षी महानात्मा नहीं होते। दूसरों से प्रेरणा लेना एवं दूसरों के निर्देश पर चलना दो भिन्न बातें हैं। दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों में औदात्य सम्भव नहीं।

यहीं एक अन्य प्रश्न उत्पन्न होता है :— क्या औदात्य का राजनीति से विरोध है ? उत्तर है—'नहीं'। यदि परमतत्व, धर्म एवं मानवतावाद आदि से अनुप्राणित, साहित्य उदात्त हो सकता है, तो राजनीति (एवं विज्ञान) से अनुप्राणित साहित्य भी अवश्य होना चाहिए। प्रश्न वाद-विशेष का नहीं, व्यक्ति-विशेष (लेखक) का है : चिन्तन के प्रकार, वाद-विशेष या 'ज्ञान-विज्ञान सब कुछ तभी सार्थक होते हैं जब मनुष्य अपने-आपको अपने सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य के हाथों निःशेष भाव से दे दें। 'मनुष्य जबतक अपने को ही नहीं दे देता वे बड़ी चीजें भार-मात्र हैं।'[2] परमुखापेक्षी लक्ष्य की ओर नहीं देखता, अधिकारियों के निर्देश की ओर देखता है, अतः उदात्त की परिधि में नहीं आ सकता।

---

१ नगेन्द्र (संपा०) 'काव्य में उदात्त तत्त्व', पृष्ठ ५५, दिल्ली–१९६१।

२ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 'विचार और वितर्क', पृष्ठ १९६।

(ठ) नव-चिन्तन

परमतत्त्व-केन्द्रित चिन्तन के पश्चात् मानव-केन्द्रित चिन्तन साहित्य और कलाओं का प्रेरक बना। परन्तु आज यथार्थ मानव की खोज के प्रयास में एक ही साथ प्रतिबद्ध-चिन्तन, व्यष्टि-केन्द्रित-चिन्तन, मुक्त-चिन्तन और विकेन्द्रित-चिन्तन का प्राधान्य है। इस बहुमुखी चिन्तन को सुविधा के लिए नव-चिन्तन कहा जा सकता है। नव-चिन्तन से प्रेरित साहित्य में जहाँ जहाँ उत्कट जिजीविषा है, अर्थवत्ता के लिए संघर्ष है, अकेलेपन का भाव आत्मविलास एवं आत्म-विनाश की अपेक्षा अहं के विलयन का प्रेरक है,[1] और जहाँ-जहाँ उसमें पुराने मानों का पुनर्मानांकन एवं अतिक्रमण है, वहाँ-वहाँ उदात्त की स्थिति निश्चित है, क्योंकि उदात्त जीवन की स्वीकृति का सिद्धान्त है। संशय, निराशा, प्रश्नाकुलता छटपटाहट आदि जहाँ-जहाँ जीवन को अधिक गहराई में और नए-नए आयामों में जानने तथा चित्रित करने के उपकरण हैं, वहाँ-वहाँ उदात्त की परिधि में आजाते हैं। परन्तु जीवन का निषेध चाहे परमतत्त्व के नाम पर हो चाहे नव-चिन्तन के नाम पर उदात्त नहीं है।

(६) उदात्त-भाव

भाव, विचार एवं व्यापार (चिन्तन एवं आचरण) का सम्मिलित रूप मानव जीवन है।[2] इन तीनों में भी सब से अधिक महत्ता भावों की है, क्योंकि समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।[3] भावों के योग के बिना चिन्तन पंगु है और 'सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है।[4] अतः उदात्त के सन्दर्भ में चिन्तन तथा आचरण के साथ भावों का विवेचन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

---

१ "एकाकियों की राह ?
वह भी है
मगर तब जब कि वह
सब के लिए तोड़ी गई हो"
.........."अज्ञेय" (नया कवि : आत्मोपदेश)
"अरी ओ करुणा प्रभामय," पृष्ठ ५१,
काशी—१९५९।

२ शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि (प्र० भा०) पृष्ठ १४१ प्रयाग— १९५०।

३ वही०, पृष्ठ ४।

४ वही०, पृष्ठ ४७।

मूल भाव वस्तुतः दो ही हैं—सुख और दुःख। इन्हीं दोनों को दूसरे शब्दों में राग और द्वेष कहते हैं।[1] इनकी प्रतिक्रिया आकर्षण और विकर्षण कहलाती है। यह कवि की महिमा है कि दोनों मूल भावों से विकसित असंख्य भाव काव्य के माध्यम से आकर्षक बन कर अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु उदात्त के सन्दर्भ में आकर्षण की नहीं, उत्कर्षण की महत्ता है। आकर्षक भाव भी यदि अपकर्षण करते हैं, तो उदात्त की परिधि में नहीं आएंगे। यह स्थापना कि 'समस्त रस सामग्री और कवि की अनुभूतियाँ स्पृहणीय एवं उदात्त होती हैं।' एवं 'उदात्त भाव ही आस्वाद्य हो सकता है,' सुविचारित नहीं है। बच्चन एवं नीरज आदि के बहुत से गीत आस्वाद्य हैं, किन्तु उदात्त नहीं हैं, क्योंकि उदात्त का प्रधान गुण उत्कर्षण है, मात्र आकर्षण या आस्वाद्यता नहीं।

भावों को मानव जीवन का प्रवर्तक कहा जाता है। साहित्य एवं कलाओं का मुख्य क्षेत्र भी यही है। चिन्तन गत परिवर्तन के अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप भी बदलता रहता है। प्राचीन काव्य में प्रेम, वीरता या करुणा आदि कोई एक भाव प्रमुख या स्थायीभाव के रूप में प्रस्तुत किया जाता था, अन्य भाव संचारियों के रूप में उसे पुष्ट करते थे। इसी प्रकार भाव से निष्पन्न प्रमुख या अंगीरस को (प्रबन्ध काव्य या नाटकादि में) अन्य रस पुष्ट करते थे। स्वच्छन्दता काल में मानव-केन्द्रित-चिन्तन के फलस्वरूप छोटे बड़े सभी भावों का अपना महत्त्व हो गया। 'भाव' शब्द की अपेक्षा उन्हीं वृत्तियों के लिए परिवर्तित-मूल्य-दृष्टि' के फलस्वरूप 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग होने लगा। इसमें व्यक्ति-दृष्टि का प्राधान्य द्योतित होता है। नव-चिन्तन के काव्य में एक ही साथ प्रेम और घृणा, श्रद्धा एवं ईर्ष्या, गर्व एवं विनय तथा स्तुति एवं निन्दा आदि संश्लिष्ट प्रतिक्रियाओं को पूरी जटिलता में तद्वत रूपायित करने की चेष्टा की जाती है। 'यथार्थ' को पकड़ने के प्रति अतिरिक्त जागरूकता के कारण 'स्वतः स्फूर्ति' से सम्बद्ध 'अनुभूति' शब्द की अपेक्षा, 'सम्वेदना' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसमें जटिल भावों का बुद्धि से अनुशासित होना द्योतित है। यहाँ तक कि भाव के रूपायित होने की अपेक्षा 'रूप के भाव-ग्रहण या तथ्य के सत्य' हो जाने पर बल है। इस तरह भाव, अनुभूति एवं सम्वेदना मात्र पर्याय न हो कर विभिन्न मूल्य-दृष्टियों के द्योतक।

---

[1] सुधांशु, लक्ष्मीनारायण, जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत, पृ० ३, भागलपुरा— १९४२।

भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप चाहे कैसा ही हो, उदात्त की कसौटी उत्कर्षण है। इसी के आधार पर कुछ प्रमुख भावों का विवेचन अभीष्ट होगा।

(क) प्रेम या काम भावना

प्रेम या काम भावना जीवन की प्रेरिका वृत्ति है।[1] इसीलिए काम की देवरूप में उपासना होती रही है। ब्रह्म का एक नाम कामेश्वर भी है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में भी काम की गणना है। प्रवृत्ति भेद से इसके अनेक नाम हैं........ श्रद्धा, भक्ति, स्नेह, रति, वात्सल्य, सख्य आदि।

(१) यह प्रेम जब परमतत्त्व से सम्बद्ध होता है तब उपासना, भक्ति एवं रहस्यवाद आदि रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। उपासना से सम्बद्ध स्त्रोत आदि रचनाएं विशेष वर्ग (सम्प्रदाय आदि) के लोगों के लिए उत्कर्षक हो सकती है। उनके लिए मात्र 'ओ३म्' या 'राम' का उच्चारण भी पर्याप्त है। परन्तु काव्य के क्षेत्र में भक्तिकाव्य एवं रहस्यवादी काव्य की ही महत्ता है। वह भी इसलिए नही कि उनमें भक्ति या रहस्य की अभिव्यक्ति है, अपितु इसलिए कि भक्ति काव्य में परमतत्त्व की एक ऐसे पूर्ण पुरुष के रूप में परिकल्पना है, जिसमें सौन्दर्य, शील, उदारता एवं शक्ति का उत्कृष्ट सामंजस्य होता है।[2] भक्तों की दृष्टि में परमतत्त्व का अवतरण ही धर्म की रक्षा एवं अधर्म के विनाश के लिए होता है। अतः पूर्ण पुरुष अथवा पुरुषोत्तम के आचरण उत्कर्षण करते हैं, श्रद्धाभिभूत करते हैं, उदात्त हैं।

रहस्यवादी रचनाओं मे परमतत्त्व का कोई निर्दिष्ट रूप नहीं होता। जो कुछ भी दृश्यमान है, व्यक्त है, वह रहस्यवादी को मात्र एक अंश लगता है, अपूर्ण लगता है, और व्यक्त के पीछे अव्यक्त, अनिर्दिष्ट परमतत्त्व की अनुभूति होती रहती है। वह अनिर्वचनीय है, इसीलिए उसे न निर्गुण कह कर सन्तोष होता है, न सगुण कह कर; न एक कह कर न अनेक कह कर; न पिता कह कर, न पति कह कर। यह मनुष्य की विवशता है, भाषा की सीमा है कि उस अनिर्वचनीय अनुभूति को लौकिक सम्बन्धों एवं सीमित प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करना पड़ता है। निषेधक शब्दों के सेतु से उसका आभास दिलाने का भी प्रयास करना पड़ता है—**असीम, अलौकिक, अनादि,**

१ 'यद् यद्वि कुरुते जन्तु तत्तन् कामस्य चेष्टितम्', मनुस्मृति, २-४., पृ० ३४, वम्बई १८८७।

२ शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, प्र० भा०, पृष्ठ ३९, प्रयाग, १९५०।

अनन्त, अजर, अमर एवं अनिर्वचनीय आदि ऐसे ही शब्द हैं। रहस्यवादी की यह नियति है कि उसे अद्वैत का आभास भी होता है और द्वैत की विकलता भी भोगनी पड़ती है ।

रहस्यवादी काव्य में अनन्तता के भाव एवं सृष्टि के कण-कण में अव्यक्त की अनुभूति आदि से सम्बद्ध अधिकांश रचनाएं मानव को क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठाती हैं, हृदय का परिष्कार एवं उत्कर्षण करती हैं। परन्तु जहाँ घोर निराशा और अवसाद की ऐसी अभिव्यक्ति ही अधिक मात्रा में हों, जो संसार से आत्यन्तिक विरक्ति एवं कर्म से विमुखता उत्पन्न करे, वहाँ उदात्त की स्थिति संदिग्ध है। पलायन चाहे भक्ति के नाम पर हो, चाहे रहस्य के, उदात्त नहीं कहला सकता ।

(ii) लौकिक प्रेम (अथवा रति)

लौकिक क्षेत्र में जहाँ काम भावना को अत्यन्त मौलिक वृत्ति, आदि प्रेरिका तथा जीवन की समृद्धि में सर्वाधिक योग देने वाली कहा गया है,[१] वहीं वैयक्तिक एवं सामाजिक धरातल पर यह सब से बड़ी समस्या है। साहित्य और कलाओं का सम्पूर्ण इतिहास इसी भावना की अनेक-विध व्याख्या है, इसी समस्या का नाना-विध उपस्थापन है तथा इसी के महत्त्व की बहु-विध स्वीकृति है। यही एक ऐसा भाव है, जिसकी विस्तृत परिधि में सुखात्मक एवं दु:खात्मक सभी तरह के मनोविकारों की व्यंजना सम्भव है ।[२]

स्थूलत: इसके दो भेद हैं :—वासना और प्रेम। मात्र रूपलोभ या रूपासक्ति वासना है। वासना का उद्देश्य क्षुद्र स्वार्थपूर्ति, इसकी स्थिति अनित्य एवं इसकी प्रवृत्ति नश्वर होती है। वासना को सार्वभौमिक रूप से अनैतिक माना जाता है।[3] इसके विपरीत प्रेम का उद्गम चाहे रूपाकर्षण से हो, परन्तु इसका प्रसार सर्वव्यापी होता है। प्रेम की प्रधान पहिचान है—'तत्सुख सुखित्वम्'—प्रियतम के सुख में अपने-आपको सुखी मानना।[४] प्रेम करने वाले का निजी स्वार्थ नहीं होता। वह प्रेमाश्रय के हित के लिए समर्पित होता है। वासना निर्बाधित अधिकार और भोग-चाहती है, प्रेम संयम और

---

१ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १२४, दिल्ली, १९६६।

२ शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि, प्र० भाग, पृष्ठ ६६, प्रयाग—१९५०।

३ हक्सले, ज्यूलियन, 'प्रेम : एक परिचय,' ज्ञानोदय प्रणय अंक, अक्टूबर १९५८।

४ उपाध्याय, बलदेव, भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ६३७, काशी, संवत्, २०१०।

तप से इष्ट की प्राप्ति चाहता है।[1] इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेम में देह की उपेक्षा की जाती है। देह तो सब तरह की वृत्तियों के उदय का आधार है। इसका अभिप्राय यही है कि प्रेमी का प्राप्य देह तक सीमित नहीं होता। उसमें तन और मन के सम्पूर्ण एकीकरण की उत्कटेच्छा होती है। इसीलिए प्रेमी अपनी अपेक्षा प्रिय के पूर्ण सुख के लिए सतत सचेष्ट रहता है। प्रेम का यही पक्ष निस्सन्देह उदात्त एवं उज्ज्वल है।

श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने प्रेम को चरित्र के महत्त्व का मूल कहा है।[2] प्रतिभा, धन, मान, सम्मान व ख्याति आदि सब इस अनुभव के बिना प्राणहीन हैं। प्रेम ही व्यक्ति के लिए जीवन एवं जगत् को गहरी अर्थवत्ता देता है एवं उन्हें रमणीय बनाता है।[3]

प्रेम की व्यंजना ऐकान्तिक भी होती है और लोक जीवन के नाना क्षेत्रों से संश्लिष्ट भी।[4] औदात्य की दृष्टि से दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। यह प्रेम जितना अधिक प्रगाढ़, उदार, निश्छल एवं व्यापक होगा उतना ही अधिक उदात्त होगा। जहाँ सेवा और त्याग-नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम, सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है।[5]

(iii) वात्सल्य :—

बच्चों के प्रति स्नेह को वात्सल्य कहते हैं। पशु-पक्षी एवं मानव सभी में पितृ-वृत्ति (सन्तानैषणा, सन्तति रक्षा) सहजात होती है, अतः यह एक मूल प्रवृत्ति है।[6] नृशंस-हृदय अधिनायक भी बच्चों के सामने कठोरता भूल जाते हैं। वात्सल्य सभी प्रकार के तनावों एवं उलझनों भरे हृदयों में उन्मुक्त-सरलता का भाव उत्पन्न कर देता है। यौवन की उद्दाम वासना वात्सल्य के स्पर्श से स्वच्छ, संयत एवं उदार बन जाती है। शत्रु के बच्चों के प्रति भी

---

१ अग्रवाल, वासुदेवशरण, कादम्बरी (एक सांस्कृतिक अध्ययन), पृ० ३६१, वाराणसी १६५८।

२ दास गुप्त, सुरेन्द्रनाथ, सौन्दर्यतत्त्व, (अनु० आ० प्र० दीक्षित), पृष्ठ १६६, इलाहाबाद, वि० २०१७।

३ Santayana, George, The Sense of Beauty, Page—60 Dover, New york— 1955.

४ शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, प्र० भा० पृष्ठ ८८, प्रयाग, १६५०।

५ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४३७ दिल्ली—१६५२।

६ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ६०४, प्रथम संस्करण, बनारस वि० २०१५।

हमारे मन में कोमलभावना बनी रहती है। भारतीय साहित्य में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के उन चार श्लोकों को सर्वोत्तम समझा जाता है जिनमें महर्षि कण्व के शकुन्तला के प्रति वात्सल्य-भाव को अभिव्यक्ति मिली है। जिस व्यक्ति के हृदय में वात्सल्य के लिए स्थान नहीं उसमें अन्य किसी भी कोमल भावना के लिए स्थान की संभावना संदिग्ध है। ऐसा व्यक्ति 'कामायनी' के मनु की तरह अपनी ही 'ताप-ज्वाला' में झुलसता-भटकता रह सकता है। अतः वात्सल्य में औदात्य की स्थिति असंदिग्ध है। परन्तु जो व्यक्ति अपनी सन्तान के लिए अन्य बच्चों से घृणा या द्वेष करता है, वह संकुचित-हृदय, स्वार्थी कदापि उदात्त नहीं कहला सकता, क्योंकि औदात्य एवं लोकापगमानिता विरोधी स्थितियां हैं।

(क) देश-प्रेम :—

देश-प्रेम वस्तुतः अनेक प्रकार के प्रेम—जन्म-भूमि प्रेम, अतीत-प्रेम, स्वातन्त्र्य-प्रेम (आदि)........एवं उत्साह की संश्लिष्ट अनुभूति है। देश को परतन्त्रता से मुक्त करने के लिए एवं उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लोग बड़े से बड़ा बलिदान करते आए हैं। सत्व-प्रधान मनस्वी व्यक्तियों का हृदय 'स्व' की संकुचित सीमा से निकल कर विश्व-व्यापी होना चाहता है। देश-प्रेम विकास के मार्ग का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। (गांधी एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मानव-मात्र के प्रेमियों का देश—प्रेम इसका उदाहरण है।) क्योंकि देश-प्रेम व्यष्टिपरक न हो कर एक समष्टिपरक भाव है। प्रत्येक ऊर्ध्व-मुखी व:प्रबुद्ध व्यक्ति अपने राग-वृत्त को अधिक से अधिक व्यापक बनाना चाहता है, और क्रमशः बड़े-वृत्त ......परिवार, ग्राम, प्रदेश, देश और विश्व ... ...में उत्कर्ष की अनुभूति करता है। अतः देश-प्रेम की भावना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण उदात्त भावना है,[1] किन्तु मानव-मात्र से प्रेम या विश्व-प्रेम तो उससे भी उच्चकोटि की वस्तु है। परन्तु देश-प्रेम के नाम पर संकुचित राष्ट्रीयता या अतीत-मोह एव विश्व-प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर मानसिक दास्य एवं परमुखापेक्षिता उदात्त नहीं हैं, क्योंकि एक में उदार हृदयता का अभाव है और दूसरे में विवेकपूर्ण दृष्टि एवं आत्म सम्मान का।

(ख) उत्साह (या वीरता) :—

औदात्य की दृष्टि से जीवन में प्रेम के अनन्तर उत्साह का स्थान अप्रतिम है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य एवं नाटकों में प्रेम एवं उत्साह

---

१. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, दिल्ली, वि० २००८।

(या शृंगार एवं वीर) में से किसी एक को ही अंगीरस के रूप में चित्रित करने का आग्रह किया है। वर्गसां ने तो वीरता को ही प्रेम का एकमात्र मार्ग कहा है।[१] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार जीवन में उत्साह से अधिक उदात्त कोई भाव नहीं।[२] इसमें मन का ऊर्जित उन्नयन होता है। यह मनःस्थिति उदात्त-चरित्रों में ही दृष्टिगोचर होती है।[3] आलस्य, सुखोपभोग स्वार्थ आदि के त्याग के साथ आत्मबलिदान की भावना ही सच्चा उत्साह या वीरवृत्ति है। प्रतिपक्षी का प्रतिरोध तो इसमें होता है परन्तु द्वेष, प्रतिशोध या क्रूरता आदि इसके अन्तर्गत नहीं आते। धैर्य एवं उदारता इसमें सदा विद्यमान रहते हैं। वीरता का अर्थ युयुत्सा नहीं, अपितु आत्म-बलिदान है। इसीलिए आचार्यों ने दान, दया, धर्म आदि में अतिशायी व्यक्ति को 'उत्साह' स्थायी भाव के अन्तर्गत स्थान दिया है और उस उत्साह से वीररस की निष्पत्ति मानी है। युद्ध जीवन का अनिवार्य अंग हो सकता है, पर लक्ष्य नहीं।[४] अतएव मात्र युयुत्सु उदात्त नहीं हो सकता। युयुत्सा किसी सदुद्देश्य अथवा महान् लक्ष्य की प्रेरिका के रूप में ही उदात्त कहला सकती है, क्योंकि औदात्य सदा सत्कर्म-सापेक्ष्य होता है।

(ग) करुण एवं शोक :—

प्राचीन आचार्यों की स्थापना है कि इष्ट नाश तथा अनिष्ट-प्राप्ति-जन्य शोक स्थाई भाव से करुण रस की निष्पत्ति होती है।[५] शोक, प्रतिकूल वेदनीयता-जन्य अथवा दुःख (इष्ट नाश, अनिष्ट प्राप्ति) जन्य है और दुःख का प्रभाव चित्त का संकोच अथवा लघुता है।[६] लघुता एवं औदात्य एकसाथ नहीं रह सकते क्योंकि औदात्य का अर्थ ही चित्त की दीप्ति, स्फीति एवं

---

१ "The truth is that the heroism may be the only way to love."
—Bergson, Henri.
The Two sources of Morality & Religion;
Page 45, New York—1935.

२ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १६५, दिल्ली १९६६।

३ Shastri, S.N. The Laws and Practice of Sanskrit Drama,
Vol. I, Page 254, Varanasi —1961.

४ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १६५, दिल्ली, १९६६।

५ धनंजय, दशरूपक, पृष्ठ १८४, बम्बई, १९२७।

६ काले, मनोहर, आधुनिक हिन्दी—मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन,
—पृष्ठ २५६, बम्बई—१९६३।

उत्कर्षण है। अतः करुण एवं शोक में सामान्यतः उदात्त की स्थिति सम्भव नहीं।

आचार्यों ने करुण की सुखदुःखात्मकता पर विस्तार से विचार किया है। कुछ विद्वानों ने करुण की महत्ता सिद्ध करने के लिए दुःख (या शोक) का गुणगान किया है।[1] (करुण की आस्वाद्यता एक भिन्न प्रश्न है। मात्र आस्वाद्यता औदात्य नहीं है। उत्कर्षक आस्वाद्यता ही उदात्त कहला सकती है) इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। उदात्त के सन्दर्भ में या तो हमें शोक के साथ-साथ करुणा को भी करुण रस का स्थाई भाव मानना होगा या शोक की सीमा बढ़ानी होगी। उसी में करुणा का अन्तर्भाव मानना होगा। सामान्यतः शोक और करुणा में अन्तर है। शोक में चित्त संकोच होता है; करुणा में नहीं। शोक स्वदुःख-जन्य है, परन्तु करुणा की उत्पत्ति पर-दुःख-कातरता से होती है। (आदि-कवि वाल्मीकि एवं महात्मा बुद्ध को हम शोकाकुल नहीं, करुणार्द्र कह सकते हैं।) हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों ने 'करुण' एवं 'करुणा' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।[2] इससे हमारी स्थापना—करुण में करुणा के अन्तर्भाव—को बल मिलता है। करुणा की महत्ता निर्विवाद है। भक्तजन भगवान (परमोदात्त) को करुणानिधि, करुणामय, करुणानिधान आदि सम्बोधनों से अभिहित करते हैं। सामाजिक क्षेत्र में, आचार्य शुक्ल ने करुणा को शील और सात्विकता का आदि संस्थापक कहा है।[3] अतः करुण में जहाँ-जहाँ पर-दुःख-कातरता या करुणा स्थाई भाव है

---

१ काले, मनोहर, 'आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन, —पृष्ठ २२६, —बम्बई—१९६३।

२ (क) 'अतः साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद ……… महाकवि भवभूति ने करुणा को ही एकमात्र रस कह दिया।'

—शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि, प्र० भा०, पृष्ठ २२३, प्रयाग—१९५०।

(ख) 'करुण काव्य में करुणा का सम्बन्ध ………'

—नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त, पृ० १३३, दिल्ली—१९६४।

(ग) करुणे क्यों रोती है ? 'उत्तर में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है, जो उसको' भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'

—गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, पृष्ठ २६७, चिरगाँव (झांसी) —सम्वत् २०१२।

३ शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि, प्र० भा० पृष्ठ ४६, प्रयाग—१९५०।

वहाँ उदात्त की स्थिति असंदिग्ध है,[1] परन्तु जहाँ मात्र स्वदुःख-जन्य शोक एवं गलदश्रु भावुकता की अभिव्यक्ति है, वहाँ नहीं। यह धारणा कि करुण का प्रत्येक प्रसंग उदात्त होता है सुविचारित नहीं।

आचार्यों ने करुण के उदात्त-पक्ष पर अन्य प्रकार से भी विचार किया है। डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—'करुण काव्य में करुणा का सम्बन्ध प्रायः महान् व्यक्तियों के साथ रहता है—महत्ता के संसर्ग से शोकादि की लघुता नष्ट हो जाती है और वे औदात्य से मंडित हो जाते हैं। इन करुण दृश्यों में प्रायः मानव शौर्य और गरिमा का भव्य निदर्शन रहता है, जो सामाजिक की चेतना का उत्कर्ष करता है। 'उत्तर राम चरित' में राम की उदात्त कर्त्तव्य-भावना उनके व्यक्तिगत दुःख को विशेष गरिमा से मण्डित कर देती है।'[2]

श्री द० के० केलकर ने करुण के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है—

(क) नियतिकृत।
(ख) व्यक्तिगत एवं
(ग) आदर्शात्मक।

प्रथम प्रकार में निष्ठुर भवितव्यता के आघातों का चित्रण होता है। द्वितीय प्रकार में व्यक्ति निजी दोषों के कारण यातनाएं सहता दिखाया जाता है। और तृतीय प्रकार में नायक आदर्शों और मूल्यों के लिए संकटों का सामना करता है। लोकाराधन के लिए राम का सीता त्याग इसी श्रेणी में आता है। श्री केलकर ने अंतिम प्रकार के करुण रस को 'करुणोदात्त रस' की संज्ञा दी है। और इसे अन्य दो प्रकारों से श्रेष्ठ बताया है।[3] हमारे विचार में यदि 'करुण' के नियति कृत प्रकार में सहृदयों की दृष्टि व्यक्ति की अपेक्षा भवितव्य की अनिवार्यता, अबाध्यता एव अपरिमेय शक्ति पर केन्द्रित हो तो उसमें भी उदात्त की अनुमति हो सकती है। इसी प्रकार चरित्र-बल में उदात्त व्यक्ति यदि—आदमी पहचानने की अक्षमता, दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल अथवा अत्यधिक औदार्य आदि—व्यक्तिगत दुर्बलता से कष्ट में पड़

---

१ उज्ज्वल नीलमणि' (रूप गोस्वामी, पृष्ठ २६ टीका, बम्बई—१९१३—१४) में 'धीरोदात्त' की परिभाषा में 'करुण' शब्द का प्रयोगउसी अर्थ में हुआ है।—लेखक।

२ नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृष्ठ १३३, दिल्ली—१९६४।

३ काले, मनोहर, आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन,—पृष्ठ २४४, —बम्बई—१९६३।

जाएं तो द्वितीय प्रकार में भी उदात्त की स्थिति मानी जा सकती।[1] यद्यपि करुणोदात्त का यह रूप अधिक उत्कर्षक न होगा।

श्री वेडेकर की स्थापना है—'शोक-नाटक के वीरोदात्त नायक-नायिका मानव ध्येय और तेजस्विता का आदर्श निर्माण करके आत्म-बलिदान से स्वतः को और समाज को पूर्णत्व की ओर ले जाते हैं। समाज का 'संभरण' करते हैं।[2] कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक स्थापना है कि करुण उस सीमा तक ही आस्वाद्य है, जिस सीमा तक वह उदात्त हो, नैतिक स्वातन्त्र्य का कृत्य हो।[3] हमें यह स्थापना सुविचारित प्रतीत नहीं होती। आस्वाद्यता एवं औदात्य दो भिन्न बातें हैं। बच्चन की 'निशा नियन्त्रण' एवं 'एकान्त संगीत' नामक पुस्तकें करुण हैं, आस्वाद्य हैं, परन्तु उदात्त नहीं हैं, क्योंकि उनसे सहृदय का उत्कर्षण नहीं होता।

इतना स्पष्ट है कि सब प्रकार के करुण या त्रासद का औदात्य से वरोध नहीं। जहाँ-जहाँ पर-दुःख-कातरता, कर्त्तव्य-परायणता औदार्य, आत्म गौरव एवं आदर्शों के लिए संघर्ष करते हुए व्यक्ति को 'इष्टनाश एवं अनिष्ट प्राप्ति' भुगतनी पड़े वहाँ-वहाँ करुण-अन्त भी औदात्य मण्डित होता है क्योंकि वहाँ पार्थिव पराजय में भी आत्मिक लोकोत्तरता झलकती है। इसीलिए आँसू गिराते हुए भी व्यक्ति चित्त-स्फीति एवं उत्कर्षण अनुभव करता है।

(घ) शान्त

सुख-दुःख, चिन्ता-इच्छा एवं राग द्वेषादि द्वैतों से परे सब भावों में अविचलित समस्थिति शान्त-भाव कहलाती है।[4] यह तत्त्व ज्ञानजन्य अनासक्ति का ही रूप है। इसलिए शान्त भाव में आलम्बन की स्थिति गौण होती है। शान्त भाव का औदात्य निष्काम सेवा, पर-दुःख-परिहार, जीव मात्र के प्रति

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद एवम् पृथ्वीनाथ द्विवेदी, 'भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक', —पृष्ठ ५३, दिल्ली, १९६३।

२ काले, मनोहर, 'आधुनिक हिन्दी—मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन' —पृष्ठ २५३, —बम्बई—१९६३।

३ "The Pathetic is aesthetic only in so far as it is sublime, an act of moral freedom." —Schiller quoted in "A History of Modern Criticism : 1750–1950" Page 248 by Wellek, Rene, London—1958

४ धनंजय, दशरूपक ४–४५, पृष्ठ १९५ पर धनिक की टीका। बम्बई—१९२७।

अपनत्व भावना एवं सहज-प्रसन्नता में प्रकट होता है। इसमें जीवन के प्रति उत्साह रहता हैं, यद्यपि वीर के उत्साह एवं शान्त के उत्साह में अन्तर होता है। वीर के उत्साह में अहंचेतना या 'निगूढ़ाहंकार' रहता है, शान्त के उत्साह में नहीं।[१] संसार से आत्यन्तिक विरक्ति, 'श्मशान वैराग्य' अथवा धननाशादि से उत्पन्न निर्वेद में उदात्त की स्थिति सम्भव नहीं। क्योंकि उदात्त का स्वभाव प्रवृत्ति है, पलायन नहीं।

ऊपर जिन प्रेम, श्रद्धा, वात्सल्य, वीरता एवं करुणा आदि भावों का विवेचन किया गया है वे प्रत्येक देश एवं संस्कृति में अपने अतिक्रामी रूप में, न्यूनाधिक बलाबल से उदात्त समझे जाते हैं। प्रत्येक युग इसके लिए अपने कारण ढूँढता है, क्योंकि ये भाव मूलतः मनुष्य की जिजीविषा के पोषक हैं।

(७) उदात्त और प्रकृति

मानवीय व्यापारों (आचरण, चिन्तन एवं भाव) के अनन्तर, प्रकृति का उदात्त पक्ष विवेच्य है। प्रकृति (अथवा मानव-निर्मितेतर, इन्द्रिय-गोचर-जगत्) प्रारम्भ से ही विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) रूप में विभिन्न भावों का आधार रही है। कलाओं एवं काव्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। प्रकृति के वही रूप उदात्त होंगे जिनमें अभिभूत कर सकने वाली अतिशायी महत्ता हो। ब्रेडले ने प्रस्तुत सन्दर्भ में एक से अधिक प्रकार की महत्ता का उल्लेख किया है। यथा—विस्तार (Extent), आकार (Size), संख्या (Number), एवं अवधि (Duration)। वितत आकाश, अभ्रंकष भूधर, असंख्य तारक जड़ित अन्धकार अथवा अगाध नीलिमा, क्षितिज पर्यन्त तथा उससे भी आगे तक विस्तीर्ण, दर्पण की तरह मसृण अथवा असंख्य ऊर्मि-उद्वेलित समुद्र एवं अनादि-अनन्त काल......उदात्त के उदाहरण हैं क्योंकि ये अपरिमेय महत्ता की प्रतिमाएं है। इसी प्रकार पक्षियों में गरुड़, मछलियों में ह्वेल, जानवरों में शेर, चीता, अजगर, हाथी आदि उदात्त कहला सकते हैं।[२]

---

१ Pandey; K. C., Comparative Aesthetics, Vol. I. (Indian Aesthetics) Page. 202 Benaras—1950

२ Bradley, A. C., Oxford Lectures on Poetry, Page 41–42 —London—1955.

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रकृति के ये रूप मात्र स्वरूप-योग्यता के कारण उदात्त नहीं कहला सकते। महदुद्देश्यों अथवा 'अगम्य' के प्रतीक रूप में चित्रित होने पर अथवा उदात्त चरित्रों के उपमान-रूप में प्रस्तुत किए जाने पर ही, इनका औदात्य स्वीकार्य हो सकता है। सिंह, सामान्यतः हिंस्र एवं भयानक है, परन्तु जब वह 'नरमुण्डमालिनी,' अपरिमेय 'शक्ति' का वाहन बन कर आता है, अथवा अदम्य शक्ति एवं साहस का प्रतीक बन कर आता है तब उसका औदात्य असंदिग्ध है। आचार्यों ने इसीलिए उदात्त या उत्तम नायक की उपमा के लिए गज, सिंह, एवं वृषभ आदि को उपमान रूप में प्रस्तुत करने का विधान किया है।[1]

प्रकृति के उपर्युक्त उदाहरणों में विस्तार, आकार, संख्या एवं अवधि आदि की अपरिमेयता-जन्य अभिभूति के कारण उदात्त की स्थिति मानी गई है। परन्तु अभिभूति की अनुभूति जितनी आलम्बन-सापेक्ष्य है उससे कम आश्रय-सापेक्ष्य नहीं। आश्रय की मनःस्थिति एवं संस्कार भी वस्तुओं एवं स्थितियों को गुण मण्डित करते हैं। इस दृष्टि से 'अणोरणीयान्, महतो महीयान्' दोनों ही उदात्त का आलम्बन बन सकते हैं। अतः एक ओर जहाँ गगनचुम्बी गिरिराज उदात्त का आलम्बन है, तो दूसरी ओर छोटा-सा प्रस्तर खण्ड (शिवलिंग); एक ओर सब कुछ भस्मसात् करने वाला दावानल तो दूसरी ओर अचल निष्ठा का प्रतीक लघुदीप; एक ओर असंख्य उत्ताल तरंगोद्वेलित अम्बुधि तो दूसरी ओर पतित-पावनी भागीरथी का स्वल्पतम जल; और एक ओर विशाल अश्वत्थ एवं वटवृक्ष तो दूसरी ओर लघुतम तुलसीदल।

रहस्य के साधक तो 'प्रकृति की प्रत्येक क्रिया पर उदात्त की छाप अनुभव कर सकते हैं।[2] वर्डस्वर्थ ने क्षुद्रतम पुष्प में गहनतम अभिभूति क्षमता का उल्लेख किया है।[3] परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्यतः अपरिमेय

---

१. Shastri, S. N., The Laws of Sanskrit Drama, Vol, I, Page 403.
—Varanasi —1961.

२ रानाडे, रा० द०, 'रहस्यानुभूतिगत उदात्त-भावना', —दार्शनिक त्रैमासिक,
—अक्टूबर, १९५५।

३ To me the meanest flower that flows can give,
Thoughts that do often lie too deep for tears.
Ode : Intimations of Immoratality from Recollections of Early Childhood.
—Wordsworth

आकार, विस्तार आदि वाले प्राकृतिक दृश्य ही उदात्त के समुचित आलम्बन हो सकते हैं। समर्थ प्रतीत होने वाला कवि भी 'स्याही की बूँद[1]' जैसे आलम्बन में ब्रह्म की सी रहस्यमयता चित्रित करते हुए उदात्त की अपेक्षा अभिहस्य का चितेरा ही प्रतीत होगा।

(८) उदात्त और सुन्दर

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों एवं सौन्दर्य-शास्त्रियों ने 'सौन्दर्य' को ललित कलाओं का आधार एवं लक्ष्य माना है।[2] विस्तृत अर्थ में 'उदात्त' को 'सुन्दर' का ही एक प्रकार कहा गया है।[3] यह भी कहा गया है कि (सीमित अर्थ में) 'उदात्त' एवं 'सुन्दर' में कदाचित् ही कुछ समानता हो।[4]

पाश्चात्य समीक्षकों के एतत्सम्बन्धी विश्लेषण विवेचन का सार इस प्रकार है। 'सौन्दर्य' आलम्बन या विषय का वह गुण है, जो आश्रय (सहृदय) को आकर्षित करता है, आन्दोलित, चालित अथवा हिल्लोलित करता है। सीमित अर्थ में सुव्यवस्था (आर्डर) औचित्य (प्रोप्राइटी), संगति (हारमोनी), अनुपात (प्रपोर्शन), मसृणता, कोमलता आदि सामान्यतः सुन्दर के गुण हैं। इसके विपरीत विस्तार, दृढ़ता शक्ति, अव्यवस्था आदि गुण अपरिमेय मात्रा में होने पर आलम्बन को उदात्त बनाते हैं।

सामान्यतः उपर्युक्त विवेचन निर्दोष प्रतीत होता है। परन्तु जब कुछ विद्वान् इस अन्तर को आत्यन्तिक मान कर 'उदात्त' को 'सुन्दर' का प्रतिलोम समझ लेते हैं तब कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में 'सुन्दर' का प्रतिलोम तो 'कुरूप' है, उदात्त कदापि नहीं। परन्तु इसी दृष्टि-दोष-वश बर्क को 'कुरूप' एवं 'उदात्त' में विसंगति नहीं दिखाई[6] दी; हीगेल ने 'उदात्त' को 'कुरूप'

---

१ पन्त, सुमित्रानन्दन, पल्लव, पृष्ठ ६४, प्रयाग–वि० २००५।

२ गुप्त, गणपतिचन्द्र, साहित्य–विज्ञान, पृष्ठ ५४। चण्डीगढ़—१९६३–६४।

३ Bradley, A. C., Oxford Lectures on Poetry, Page 38. London—1955.

४ Flaccus, L. W., The Spirit and Substance of Art, Page 257. —New York —1947.

५ दास गुप्त, सुरेन्द्रनाथ, सौन्दर्य तत्त्व, (भूमिका पृ०६) अनु०आ०पृ० दीक्षित. —इलाहाबाद,—वि०२०१७।

६ Burke, Edmund. "A Philosophical Enquiry into the origin of Our Ideas of the Sublime and Beautiful." (Ed. Boulton) Page—119 —Columbia—1958.

एवं 'विरूप' का सजातीय (Akin) कहने में संकोच नहीं किया;[१] और शिलर को एक ही रूप एक साथ उदात्त एवं कुरूप प्रतीत हो सका।[२] हमारी स्थापना है कि जो वास्तव में 'कुरूप' है या 'कुरूप' का सजातीय है वह कदापि 'उदात्त' नहीं हो सकता। उदात्त का अनिवार्य प्रभाव उत्कर्षण है और कुरूप का विकर्षण। सान्तायन ने ठीक ही उदात्त को सुन्दर का सर्वोच्च एवं मदमत करने वाला रूप कहा है।[3] ब्रेडले ने भी सुन्दर के विस्तृत अर्थ में उदात्त को एक कोटि पर रखा है और ललित को दूसरी पर। सीमित अर्थ में 'सुन्दर' की स्थिति मध्यवर्तिनी मानी है (यथा—सब्लाइम, ग्रैण्ड, ब्यूटीफुल, ग्रेसफुल एण्ड प्रेटी)। कुरूप के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं।[४]

उदात्त, वास्तव में, ऐसी सर्वातिक्रामी स्थिति का अभिधान है जो सुन्दर-कुरूप, पवित्र-अपवित्र, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-मिथ्या एवं पाप-पुण्य आदि युग्मों से कहीं ऊँची एवं अतिक्रामी है। दूसरे शब्दों में औदात्य एक सर्वोत्कृष्ट संश्लिष्ट-मूल्य है। इसे थोड़ा स्पष्ट करें।

मनुष्य अर्थान्वेषी अथवा मूल्यान्वेषी प्राणी है। मूल्य का अभिप्राय है अधिकाम्यता (Preference)।[५] इसीलिए मूल्य विवेक के विषय हैं। मनुष्य का सांस्कृतिक इतिहास मूल्यान्वेषण, मूल्यसुरक्षण, मूल्याभिवृद्धि एवं मूल्य-चरितार्थन का इतिहास है। कला, धर्म एवं आचार-शास्त्र आदि दृष्टि एवं प्रयोजन भेद से इसी प्रयास के विभिन्न रूप हैं। हम 'सुन्दर', 'पवित्र', 'कर्त्तव्य', आदि को 'एषणीय एवं प्रेयोव्यतिरिक्त श्रेयोरूप मानते हैं।[६] देश काल के अनुसार हम 'सुन्दर', 'पवित्र' आदि के लिए न्यूनाधिक निश्चित सीमा

---

१ Bosanquet, Bernard, A History of Aesthetic, Page—356, —New York—1961.

२ —do— —do—

३ Santayana, George, The Sense of Beauty, Page—243 Dover, New York—1955.

४ Bradley, A. C., Oxford Lectures on Poetry, Page 40. —London—1955.

५ Santayana, George. The Sence of Beauty, Page 18, Dover, New York—1955.

६ पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, "मानव पर्येषणा और दार्शनिक विमर्श," —दार्शनिक त्रैमासिक, —अक्तूबर—१९६६।

रेखा का निर्धारण कर लेते हैं। परन्तु कई बार कोई अपूर्व दृश्य, चित्र, व्यक्ति, घटना एवं कृत्य आदि उन सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ, हमें भी मन्त्र-मुग्ध कर ऊपर उठा ले जाता है, हम स्तब्ध रह जाते हैं, विस्मय-विमूढ़ हो उठते हैं, श्रद्धाभिभूत हो जाते हैं, एवं उल्लसित होते हैं। ऐसी ही 'लोकोत्तर', एवं अद्भुत 'अवस्था को उदात्त कहा जाता है। नियमों से खिलवाड़ करने वाला कृष्ण और सदियों की अस्पृश्यता को मधुर-स्पर्श से पवित्र करने वाला गाँधी ऐसे ही उदाहरण हैं।

निश्चित सीमा-रेखा अथवा नियमों को अनोखी महिमा से मण्डित करना भी अपनी लोकोत्तरता में उदात्त है। जैसे राम का अप्रतिम लोकाराधन एवं 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई' वाला सीता का रूप। अतः औदात्य सुन्दर, पवित्र कर्त्तव्य आदि मूल्यों का ही अतिक्रामी रूप है, उसे कुरूप, अपवित्र, अकर्त्तव्य अथवा उनका सजातीय कदापि नहीं कहा जा सकता। इस स्थापना को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) उदात्त को सर्वोत्कृष्ट रूप अथवा परमोदात्त का उदाहरण, भगवद् गीता में वर्णित (११.१०-४५) भगवान का विराट् रूप है। उसे कुरूप अथवा कुरूप का सजातीय कहना विवेकहीनता का परिचय देना होगा। शिव, गणेश, नृसिंहावतार आदि को जो 'कुरूप' समझता है उसके लिए वे कदापि उदात्त नहीं हो सकते और जो उन्हें उदात्त समझता है उसके लिए वे कदापि कुरूप नहीं हो सकते। उनका रूप उनकी लोकोत्तरता का प्रतीक है।

(ख) व्यक्ति रूप में उदात्त शक्ति, शील और सौन्दर्य की चरम अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। रूप-लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है।[1] भारतीय काव्य नाटकों के उदात्त नायक इस स्थापना के प्रमाण हैं। अतः पूर्वोक्त पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उदात्त को सुन्दर का प्रतिलोम एवं कुरूप का सजातीय कहना सुविचारित नहीं।

(ग) लाक्षणिक दृष्टि से सामान्यतः एषणीय सामाजिक गुण सुन्दर कहलाते हैं और असामान्य मात्रा में यही गुण अभिभूति-क्षमता के कारण उदात्त

---

१ शुक्ल, रामचन्द्र, चिन्तामणि. प्र०भा०, पृष्ठ २०२, प्रयाग—१९५०।

की परिधि में आ जाते हैं। यहाँ भी सुन्दर का अतिक्रामी रूप ही (विरोधी नहीं) उदात्त कहलाता है।

९. उदात्त-अभिव्यक्ति (शिल्प) पक्ष

लोंगिनुस का कथन है—'औदात्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है।'[१] दूसरी ओर रीड की स्थापना है कि उदात्त का उद्गम कला में नहीं, अपितु उस गरिमा में है, जो विषय-वस्तु तथा तदनुरूप (एवं तज्जन्य) भावोद्बोध में होती है।[२] यद्यपि दोनों स्थापनाएं महत्त्वपूर्ण हैं, एवं एक के अभाव में दूसरी की कल्पना भी सम्भव नहीं तथापि सापेक्ष्यता की दृष्टि से रीड की स्थापना अधिक तर्क-संगत है। स्वयं लोंगिनुस, जिनका प्रतिपाद्य उदात्त का अभिव्यक्ति पक्ष है, कला की अपेक्षा प्रकृति को एवं परिशुद्धता की अपेक्षा प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में निर्दोष शिल्प-सौन्दर्य मध्यम कोटि के कवियों का गुण है, उसमें क्षुद्रता की आशंका रहती है जबकि महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है।[३] फिर भी कला पक्ष की अपनी महत्ता है। लोंगिनुस के ही अनुसार जैसे सद्बुद्धि के अभाव में (सबसे बड़े वरदान) सौभाग्य का भी विनाश हो जाता है, उसी प्रकार कला के अभाव में प्रतिभा नष्ट हो जाती है।[४]

(क) काव्य का उपकरण अथवा काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम **भाषा** है। काव्य-भाषा में वर्ण, पद, गुण, अलंकार बिम्ब, प्रतीक एवं छन्द आदि विवेच्य है। विद्वानों ने लक्षित किया है कि उदात्त शैली में दीर्घ-मात्राओं संयुक्ताक्षरों तथा लम्बे पदों का अधिक प्रयोग होता है।[५] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र के ओज गुण एवं गौड़ीया रीति में उदात्त के शैली पक्ष की 'अप्रत्यक्ष विवक्षा' मिलती है।[६] ओज का अर्थ है तेज, प्रताप या दीप्ति। यह वह गुण है जो मन में उत्साह, वीरता, आवेश आदि को उत्पन्न करता है। भरत का मत है कि समास-युक्त, किन्तु श्रवण-सुखद एवं अर्थ गाम्भीर्य-युक्त पदावली ओजमयी होती है। दण्डी के अनुसार समास-

---

१ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ४४। दिल्ली, १९६१।
२ Monk, S. H., The Sublime, Page 147 Michigan, 1960
३ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ३०–३१, दिल्ली, १९६१।
४ वही ०, पृष्ठ ४५–४६।
५ वाजपेयी, कैलाश, आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प पृष्ठ ६५, दिल्ली, १९६३।
६ नगेन्द्र, (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ २४, दिल्ली, १९६१।

बहुला पदावली ओज गुण से युक्त होती है। वामन के अनुसार संयुक्ताक्षरों का संयोग एवं अर्थ की प्रौढ़ता ओज के लिए आवश्यक है। ओज की निष्पत्ति के लिए (कवर्ग, चवर्ग आदि) वर्गों के प्रथम एवं तृतीय अक्षर संयुक्त होने चाहिएं, और ट, ठ, ड ढ, ऋ, र, ष आदि वर्णों का प्रयोग होना चाहिए।[१]

(ख) भरत एवं वामन दोनों ने **ओज गुण** में अर्थ गाम्भीर्य या अर्थ की प्रौढ़ता पर बल दिया है और यह उचित भी है, क्योंकि जो कवि मात्र वर्ण-विन्यास पर दृष्टि रख, मूर्द्धन्याक्षरों की ठेलपेल में पसीना बहाते हैं, वे उदात्त की अपेक्षा अभिहस्य की ही सृष्टि करते हैं। विराट् (या उदात्त) चित्रण व्यंजन-संगीत-प्रधान ही हो, इसका कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता।[२] 'माधुर्य' एवं 'प्रसाद' गुण में प्रयुक्त वर्ण-पदावली का भी औदात्य से विरोध नहीं, अनिवार्यता तो अर्थ-गाम्भीर्य या प्रौढ़ता की है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में गुण के भेदों में 'उदात्त' की चर्चा भी आती है। वहाँ उदात्त से अभिप्राय प्रशंसनीय गुणवाचक विशेषणों के प्रयोग से तथा अनुचितार्थ नामक दोष के अभाव से है।[3] स्पष्ट ही उदात्त गुण में कथन के प्रकार की अपेक्षा कथ्य पर बल है, अतः अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से यह गुण महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(ग) उदात्त काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष में वर्ण-विन्यास एवं गुण के अनन्तर शब्द-प्रयोग विवेच्य है। नाना रूप व्यापारात्मक जगत् पदार्थ-रूप में, पद (विभक्ति एवं क्रिया चिह्न युक्त शब्द) के अर्थ रूप में, ही ग्राह्य एव अभिव्यज्य हो पाता है। अन्य कलाओं के उपकरण············रंगरेखा, ध्वनि आदि·······भी शब्द के माध्यम से व्याख्येय है। शब्द माध्यम ही नहीं विचार एवं भाव अथवा बोध मात्र का आयाम होते हैं। अतः समृद्ध शब्द-भण्डार का अर्थ है समृद्ध-भाव-बोध। उदात्त-काव्य के रचयिता का शब्द-भण्डार समृद्ध होना अनिवार्य है।

प्रत्येक शब्द दीर्घकाल से किये गए प्रयोग और उसके संचरित संस्कार के फलस्वरूप एक विशिष्ट अर्थ एवं व्यंजना की सृष्टि करता है।[१] अतः

---

१ भारद्वाज, रामदत्त, काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ ५५–५६, दिल्ली, १९६३।

२ पन्त, सुमित्रानन्दन, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १०४, इलाहाबाद, १९६५।

३ De, Sushil Kumar. History of Sanskrit Poetics, Vol. II, Page—238 —Calcutta—1960

४ दासगुप्त. सुरेन्द्रनाथ, सौन्दर्य-तत्त्व पृष्ठ ५२ (अनु० आ० प्र० दीक्षित), इलाहाबाद, —सम्वत्—२०१७।

अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्द का सम्यक् ज्ञान एवं सुष्ठु प्रयोग आवश्यक है, किन्तु उदात्त कलाकार अपूर्व, लोकोत्तर अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग द्वारा शब्दों को नई अर्थ-भंगियों का वाहक बना देता है और इस प्रकार भाषा को समृद्ध बनाता है।

उदात्त काव्य के शब्दों में, संयम, गाम्भीर्य पवित्रता, शक्ति, निर्मलता एवं सहज-गरिमा का भाव रहता है। कुछ विशेष अवसरों को छोड़ कर उदात्त शब्दावली में ध्वनि की ऋजुता और सौम्यता के लिए बहुत कम स्थान है।[1] अतएव सामान्यतः उसमें महाप्राण तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। लोक भाषा का प्रयोग भी समर्थ कवि उदात्त काव्य में निभा लेते हैं। (जैसे कबीर, तुलसी)। परन्तु बाज़ारू भाषा, स्त्रैण-पदावली, क्षुद्रता-संकीर्णता-द्योतक शब्द,[2] छिछली रसिकता एवं अतिलालित्य सूचक शब्द, और लुप्त प्रयोग, पारिभाषिक पदावली एवं शब्दाडम्बर आदि उदात्त के विरोधी हैं।[3] उदात्त काव्य में वाग्मिता होती है, वाचालता नहीं।

(घ) अलंकार

शब्द-विन्यास, कथन-भंगिमा एवं अभिधान के विशेष प्रकार के रूप में उदात्त के शिल्प-पक्ष में अलंकारों का प्रयोग विचारणीय है। कुछ भारतीय विद्वान् तो अलंकार को काव्य की आत्मा.......या काव्य का विच्छेदक गुण...........मानते रहे हैं। परन्तु भावन रूप में..........काव्य में दीप्ति, आह्लादकता, सजीवता, सौन्दर्य आदि के साधक होने में..........अलंकारों का प्रयोग आज भी मान्य है।[4]

अलंकार-प्रयोग की सफलता, औचित्य..........अथवा, भावानुरूपता एवं सहजता..........में है। भव्य से भव्य अलंकार भी उसी स्थिति में उदात्त का पोषक हो सकता है, जब उनका प्रयोग स्थान, परिस्थिति, रीति और उद्देश्य के अनुकूल हो। और साथ ही इस बात पर भी किसी का ध्यान न जाए कि यह अलंकार है।[5] औचित्य के लिए यह भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रयुक्त

---

१ कदम, हरबंस, (संपा० एवं अनु०) ग्रीक साहित्यशास्त्र, पृष्ठ १०६। चण्डीगढ़, १९६४।

२ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १९–२०, दिल्ली, १९६१।

३ पाण्डेय, जगदीश, उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन, पृष्ठ ४७–५८, आरा (बिहार), १९६४।

४ गुप्त गणपतिचन्द्र, साहित्य-विज्ञान, पृष्ठ २६४, चण्डीगढ़, १९६३–६४।

५ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १४, दिल्ली, १९६१।

अलंकार बहुसंख्यक नहीं होने चाहिएं। इससे रुचि के अभाव और शैली के वैषम्य का निदर्शन होता है।[१]

अलंकार के सौन्दर्य का मूल सादृश्य में है अतः महत्त्व की दृष्टि से सादृश्य मूलक अलंकारों का स्थान प्रथम है।[२] उदात्त काव्य में उपमान स्वभावतः विषय अथवा उपमेय की गरिमा के अनुरूप उत्कृष्ट एवं उत्कर्षक होंगे। उदात्त नायक के लिए दृश्योदात्त के आलम्बन (समुद्र, भूधर, आकाश आदि) उपयुक्त उपमान हो सकते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में गज, सिंह या वृषभ आदि को उदात्त नायक का उचित उपमान माना गया है। उदात्त नायिका के लिए धरित्री, निशा, चन्द्रिका एवं कमलिनी आदि उपयुक्त उपमान कहे गए हैं।[3] वास्तव में उपमान चाहे वज्र जैसे कठोर हों, चाहे प्रसून जैसे कोमल, उदात्त की लोकोत्तरता के अनुरूप होने चाहिएं।

उदात्त के पोषक सादृश्य-मूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति व्यतिरेक एवं उल्लेख प्रमुख हैं। **उपमा** इन समस्त सादृश्यमूलक अलंकारों का भी प्राण है, क्योंकि स्वतः सादृश्य है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कला की दृष्टि अपने सौंदर्य बोध के लिए सादृश्य का आश्रय ग्रहण करती है।[४] कालिदास की प्रशस्ति में उपमा के प्रयोग की महत्ता का गान, वास्तव में कालिदास के सौन्दर्य-बोध एवं ललितोदात्त उपमानों के नवनवोद्-भावन की महत्ता का ही प्रकारान्तर से गान है।

उत्प्रेक्षा कवि-कल्पना की उर्वरता का द्योतक मानी जाती है। इसमें सादृश्य तथा साधर्म्य की, नानाविध भावस्थितियों की संभावना के लिए खुला क्षेत्र होता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट काव्य में उत्प्रेक्षा का व्यापक प्रयोग मिलता है।[५] उत्प्रेक्षा, चाहे एक हो चाहे अनेक, एक ही भाव की उत्क्रामक स्थिति का चित्रण करने के लिए प्रयुक्त होनी चाहिए। विपरीत-धर्मी विविध उत्प्रेक्षाएं कवि की कल्पना-शीलता का परिचय दे सकती हैं, परन्तु उदात्त की

---

१ करुण ,हरीश (संपा० एवं अनु०) ग्रीक साहित्यशास्त्र, पृष्ठ ११२, चण्डीगढ़, १९६४।
२ हिन्दी साहित्य-कोश, भाग १, पृष्ठ १६८, वाराणसी,—सम्वत् २०२०।
३ Shastri, Surendra Nath, The Laws of Sanskrit Drama, Vol. I, Page—403, Varanasi, 1961.
४ हिन्दी साहित्य-कोश, भाग १, पृष्ठ १६८–६९, संवत्–२०२०।
५ वही०, पृष्ठ १४८।

सर्जना नहीं कर सकतीं।[1] (उदाहरण—भारतेन्दु कृत 'यमुना वर्णन[2] एव पन्त कृत 'छाया'।[3]

रूपक में अत्यन्त साहश्य के लिए उपमेय में उपमान का आरोप दिखाया जाता है। भारत में भरत के 'नाट्यशास्त्र' से अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' तक आलंकारिकों का ध्यान रूपक ने विशेष रूप से आकृष्ट किया है। उधर यूरोप में अरस्तू के समय से ही रूपक (मेटाफ़र) को अलंकारों का सम्राट् माना जाता है।[4]

'अतिशयोक्ति' सम्भवत: उदात्त के सर्वाधिक अनुकूल है और अत्युक्ति प्रतिकूल। लोकोत्तरता अथवा 'लोकातिशयिता' उदात्त का धर्म है, और अतिशयोक्ति में 'अतिशय' का ही कथन होता है। यह 'अतिशय' उदात्त के अनुरूप आचरण, चिन्तन, भाव, प्रकृति, देश, काल आदि में से किसी भी क्षेत्र की लोकोत्तरता से सम्वद्ध हो सकता है। इसके विपरीत अत्युक्ति, उदात्त की अपेक्षा, 'अभिहस्य' की सृष्टि करती है, क्योंकि अत्युक्ति में शौर्य और औदार्य आदि का अद्भुत-अतथ्य (अत्यन्त-मिथ्या) वर्णन होता है।[5] अतिशयोक्ति मर्म-स्पर्शिनी होती है, दीप्त-द्रवित करती है, 'अत्युक्ति' अधिक से अधिक चकित कर सकती है। अतिशयोक्ति में सहृदय कथ्य से अभिभूत हो जाता है, अत्युक्ति में कल्पना की प्रशंसा (?) से आगे नहीं बढ़ पाता।[6] कुछ विद्वान् अतिशयोक्ति एवं अत्युक्ति को एक समझ कर, अतिशयोक्ति के असंयत प्रयोग को अभिहस्य कह देते हैं। इन्हें दो भिन्न अलंकार मानना ही युक्तिसंगत है।

'व्यतिरेक' में (विशिष्ट गुण वश) उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष दिखाया जाता है। उदात्त आलम्बन अपनी लोकोत्तरता में अपरिमेय

---

१ पाण्डे जगदीश, उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन पृ०५४–५५। आरा (बिहार) १९६४।

२ भारतेन्दु ग्रन्थावली।

३ पन्त, सुमित्रानन्दन, पल्लव, पृष्ठ ५५–६०, प्रयाग, वि० २००५।

४ द्विवेदी, राम अवध, साहित्य सिद्धान्त, पृष्ठ ४९, पटना, १९६३।

५ अप्पय दीक्षित, कुवलयानन्द, पृष्ठ, १६४, बम्बई, १९३७।

६ अतिशयोक्ति का उदाहरण :—

"आंगलियारी मूंदड़ी म्हारे आवण लागी बांह।" —मीरां,

अत्युक्ति का उदाहरण :—

"आड़े दै आले वसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेह बसु, सखी सबै ढिगु जाति॥"—बिहारी॥

होते हैं। अत: कोई भी उपमान उनके समकक्ष नहीं ठहरता। इसी कारण 'असम' और 'अनन्वय' अलंकार भी उदात्त के अनुकूल हैं। 'असम' में उपमान का सर्वथा निषेध होता है और 'अनन्वय' में उपमेय ही अपना उपमान होता है।

सादृश्य मूलक अलंकारों में 'उल्लेख' भी उदात्त के अत्यधिक अनुकूल पड़ता है। उदात्त आलम्बन का अपनी 'दुर्निरीक्ष्यता', अपरिमेयता, या अग्राह्यता में, एक या अनेक प्रभाताओं को वहुधोल्लेख्य लगना स्वाभाविक है।

विरोध मूलक अलंकारों में उदात्त का पोषण **विभावना** से सम्भव है। इसमें कारण के अभाव में अथवा अपर्याप्त कारण के रहते कार्य की उत्पत्ति दिखायो जाती है। उदात्त के नियामातीत्य धर्म को इनसे बल मिल सकता है।

शृंखलामूलक अलंकारों में **'सार'** का वह रूप जहाँ उत्तरोत्तर पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ उत्कर्ष-वर्णन हो, उदात्त का पोषक है, परन्तु जहाँ उसमें उत्तरोत्तर अपकर्ष वर्णित हो, वह उदात्त के लिए घातक है।[1]

न्यायमूलक अलंकारों में 'परिकर' साभिप्राय विशेषण के कारण, एवं **'परिकरांकुर'** साभिप्राय विशेष्य के प्रयोग के कारण उदात्त के अनुकूल है।

गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों में **पर्यायोक्ति** का प्रयोग उदात्त का साधक है। प्राचीन कवि महासत्त्व उदात्त नायक के निगूढ़ाहंकार को मार्मिक अभिव्यक्ति देने के लिए पर्यायोक्ति का आश्रय लेते रहे हैं, क्योंकि इसमें विवक्षितार्थ का वाच्यवाचक भाव से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रतिपादन होता है।

कुछ विद्वानों ने अलंकारों में 'उदात्त' अलंकार की भी चर्चा की है। मम्मट के अनुसार किसी भी वस्तु की समृद्धि तथा महान व्यक्तियों को उस समृद्धि का सहायक चित्रित करना 'उदात्त' अलंकार का लक्षण है। परन्तु इस लक्षण का काव्य के 'अभिधान-प्रकार' (अभिव्यक्ति पक्ष) से सम्बन्ध नहीं है, अत: 'उदात्त' का अलंकारत्व ही संदिग्ध है।[2]

(ङ) बिम्ब-विधान एवं प्रतीक-योजना

अलंकारों के प्रयोग के अनन्तर उदात्त के अभिव्यक्ति पक्ष में बिम्ब-विधान एवं प्रतीक-योजना विवेच्य है। विम्ब और छन्द को 'काव्य की अभिव्यंजना के दो मूलतत्व' कहा गया है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि विम्ब

---

१ हिन्दी साहित्य-कोश, भाग १, पृष्ठ ६१८–१९। वाराणसी, २०२०।

२ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ २५–२६, दिल्ली, १९६१।

३ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १५, दिल्ली, १९६६।

काव्य का एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक अंग है। बिम्ब से अभिप्राय कवि-मानस की अमूर्त-अनुभूतियों के ऐसे सजीव एवं रागात्मक चित्रण से है, जो सहृदय में ऐन्द्रिक भाव अथवा तदनुरूप मानस-बिम्बों को जाग्रत कर सके। बिम्ब-विधान में प्राचुर्य, वैविध्य, अपूर्वता, एवं औचित्य का निर्वाह कवि की क्षमता एवं प्रभावशालिता का द्योतक होता है।[1] उदात्त बिम्बों से परिमाण (संख्या, आकार विस्तार आदि) एवं गुण (शक्ति, उत्साह, प्रेम उदारता, करुणा आदि) की अपरिमेयता या अतिशयता का चित्रण होता है।[2] वास्तव में परिमाण भी गुण का प्रतीक होने पर ही उदात्त की परिधि में आता है। गुणातिशय के चित्रण में एक प्रकार की अतिरिक्त सांकेतिकता का आजाना स्वाभाविक है। अतएव उदात्त-चित्रण में बिम्ब-विधान की अपेक्षा प्रतीक-योजना अधिक महत्त्वपूर्ण है। बिम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है, उसे वाच्य-चित्र कहा जा सकता है। इसमें अंकन-स्पष्टता अनिवार्य है। दूसरी ओर प्रतीक को वाच्य से परे व्यंग्य-चित्र कहा जा सकता है।[3] प्रतीक में अंकन-स्पष्टता अनिवार्य नहीं। प्रतीक, रूपक, रूपकातिशयोक्ति एवं अन्योक्ति से भी भिन्न है। रूपक में उपमान उपमेय दोनों का कथन होता है, और रूपकातिशयोक्ति में मात्र उपमान का। महत्ता दोनों जगह उपमेय की होती है। परन्तु प्रतीक की अपनी महत्ता होती है, क्योंकि उसका उपमेय उसी में जन्म लेता है। यही गुण उसे अन्योक्ति से भी भिन्न सिद्ध करता है। अन्योक्ति का 'अन्य' पहले से ही निश्चित होता है। 'प्रतीक की एक अन्य विशेषता यह है कि उसके अनुरणन में कई अर्थ

---

१ वही०, 'धर्मयुग,' साप्ताहिक, १८ दिसम्बर, १९६६ एवं २२ जनवरी, १९६७।

२ श्री केदारनाथसिंह ने छायावाद के सन्दर्भ में सात प्रकार के बिम्बों की चर्चा की है—(१) मनोगत्यात्मक या अलंकरण प्रधान, (२) उदात्त, (३) संवेदनात्मक (४) वस्तु-प्रधान (५) गत्यात्मक, (६) विस्तार-प्रधान, (७) नाद-प्रधान या संगीत-प्रधान। उदात्त बिम्ब के सन्दर्भ में उनकी स्थापना है इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता भाव और वस्तु के ऐसे चित्रण में है जिससे ओज की व्यंजना होती है। इसके द्वारा पर्वत, शिखर तथा असाधारण भावों का ही चित्रण होता है। वस्तुस्थिति यह है कि उदात्त बिम्बों के चित्रण में (मात्र ओज की नहीं अपितु) लोकोत्तरता की व्यंजना होती है। इसलिए औदात्य का सम्बन्ध गत्यात्मक अथवा अलंकरण प्रधान बिम्बों के अतिरिक्त किसी भी अन्यकोटि में रखे गए बिम्बों से हो सकता है, यथाकि श्री सिंह के विवेचन से भी संकेतित है। (देखिए छायावाद, पृष्ठ १३७–३८, सम्पादक उदयभानुसिंह, —दिल्ली, प्र० सं० सं०)।

३ नवल, इन्द्रनाथ, आधुनिक कविता का मूल्यांकन, —पृष्ठ ४२, अक्तूबर, १९६२।

व्यंजित हो उठते हैं।'[१] यह अर्थ-व्यंजना, जितने अधिक स्तरों पर एक साथ होगी, उतना ही प्रतीक अधिक प्रभविष्णु कहला सकेगा।

उदात्त के पोषक प्रतीक अपरिमेय अथवा लोकोत्तर गुणों को व्यंजित करने वाले ही हो सकते हैं। प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे प्रतीक मिलते हैं, जो पौराणिक परम्परा, सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास बोध आदि से सम्बद्ध होने के कारण लोक-चेतना का सजीव अंग बन चुके होते हैं। उनका प्रयोग सहज ही उदात्त का पोषक हो जाता है। अश्वत्थ, वटवृक्ष, हंस, गरुड़ तथा सूर्य एवं अग्नि आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। देवाधिष्ठित अन्य प्रतीक भी उदात्त कोटिक होते हैं।[२] उदात्त का स्रष्टा लोक-व्यवहार, शास्त्र एवं विज्ञान आदि के क्षेत्रों से सम्बद्ध नए प्रतीकों का प्रयोग कर भाषा को समृद्ध एवं लोक चेतना को परिष्कृत बनाता रहता है।

प्रतीक की गरिमा उसकी पारदर्शिता में है। उदात्त प्रतीक–राम, रहीम, ईसा आदि—भी जब अपारदर्शी हो जाते हैं, तब अर्थाच्छादक तो होते ही हैं, पूर्णत: विपरीत प्रभाव भी डालने लगते हैं। साम्प्रदायिक दंगे, संहार आदि इसी का दुष्परिणाम होते हैं। ऐसी स्थिति में ये प्रतीक उदात्त नहीं रहते। इस स्थिति का परिहार दो प्रकार से हो सकता है—या तो जड़ प्रतीकों को हटा कर नए प्रतीकों की स्थापना द्वारा अथवा अपूर्व आत्म बल द्वारा उन्हें पुन: पारदर्शी बना कर। कबीर ने प्रखरता से जड़ प्रतीकों पर कुठाराघात किया और राम-रहीम' को पारदर्शी बनाया। तुलसी ने अपने क्षेत्र में निर्गुण-सगुण, ज्ञान और भक्ति एवं राम तथा शिव को पारदर्शी बनाने की विराट साधना की। तुलसी के बहु-प्रचारित समन्वय सिद्धान्त की महत्ता इसी बात में है।

(च) छन्द

काव्य के उपकरण या भाषा के दो मूल तत्त्व हैं—नाद एवं चित्र अथवा संगीत एवं बिम्ब।[3] भाषा के संगीत या प्रवाह धर्म का नाम ही छन्द है।[४] व्यापक अर्थ में 'छन्दहीन शब्द की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[५]

---

१ Wain, John. 'Encounter' London, March,1964.

२ शर्मा, कृष्णलाल, वैदिक साहित्य, में शकुन तथा अद्भुत घटनाएं, पृ० २२ —सहारनपुर, १९७०।

३ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १५, दिल्ली, १९६६।

४ द्विवेदी, हाजरीप्रसाद, साहित्य सहचर, पृष्ठ वाराणसी ५६, १९६५।

५ भरत, नाट्यशास्त्र, १४–४५ पृष्ठ।

सीमित या रुढ़ अर्थ में मात्राओं या वर्णों के निश्चित क्रम एवं संख्या के अनुसार लयबद्ध रचना को छन्द कहते हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक जाति, देश एवं युग की अपनी विशिष्ट भाषा होती है, अपना विचार-संस्थान, भाव संस्थान एवं संवेदनाएं होती हैं, अपने मूल्य होते हैं, उसी प्रकार काव्य के उपकरण के रूप में विशिष्ट 'भाषा प्रवाह' लय या छन्द होते हैं।[१] कविता के विकास में, विचार, भाव एवं मूल्यों के परिवर्तन में ये छन्द कुछ उसी प्रकार टूटते और बनते चलते हैं, जैसे भाषा के विकास में व्याकरण के नियम।[२] विभिन्न युगों की कृतियों के भाव-बोध, विचार-संस्थान एवं मूल्यगत वातावरण में जो अन्तर होता है, वही अन्तर भाषा एवं छन्द योजना में भी देखा जा सकता है।

वैदिक काल के छन्द स्वराघात या स्वरों के आरोह-अवरोह (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) एवं प्राय: दीर्घस्वर-ध्वनियों पर आधारित हैं। उनमें न वर्णों के गुरु लघु क्रम का निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादों की व्यवस्थित संख्या। तत्कालीन वातावरण की स्वच्छन्दता, मुक्त-चिन्तन, एवं उदार आध्यात्मिक चेतना की गरिमा के अनुरूप, वैदिक छन्द सहज प्रसूत हैं।[3] लौकिक संस्कृत में वार्णिक छन्दों का प्रयोग प्रधान रहा है, जिनमें आभिजात्य वातावरण के अनुरूप नियम-पालन की गरिमा है, यद्यपि कुछ स्थानों पर नियम पालन की कठोरता ने कथ्य एवं भाषा को विकृत कर दिया है। व्रज, अवधी आदि में विशेष प्रकार के मात्रिक छन्द (दोहा, सोरठा कवित्त, सवैया, चौपाई एवं रागों पर आधारित पद) अधिक प्रिय रहे हैं, जो लोक-भाषा की तरह लोकजीवन के अधिक समीप हैं और वार्णिक नियमों की कठोरता से बहुत सीमा तक मुक्त हैं। खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक वर्णों में एक ओर पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के फलस्वरूप संस्कृत में प्रयुक्त वार्णिक छन्दों के पुनरुज्जीवन का प्रयास किया जाता रहा, दूसरी ओर नई भाषा की प्रवृत्ति के अनुरूप अन्य प्रकार के मात्रिक छन्दों (हरिगीतिका, रोला, उल्लाला आदि) का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी प्रकार पुनर्जागरण की स्वच्छन्दता ने

---

१ अवस्थी, देवीशंकर, आलोचना और आलोचना, पृष्ठ ७४, कानपुर —१९६१।

२ कुँवरनारायण, तीसरा सप्तक, पृष्ठ २३५–३६, (सम्पा० अज्ञेय) —वाराणसी—१९५९।

३ (क) माथुर गिरिजाकुमार, नयी कविता, सीमाएं और संभावनाएं, पृष्ठ ३३, —दिल्ली—१९६६।

(ख) हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ७४०, वाराणसी—२०१५।

एक ओर मुक्त छन्द को जन्म दिया दूसरी ओर अनेकानेक गीतियों को। आज-कल उलझी संवेदनाओं, विषम-विचारों एवं खण्डित-भावों की 'अभिव्यक्ति' (?) के लिए विभिन्न लय-खण्डों, छन्दांशों एवं खण्डित-छन्दों का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार परिवर्तित मूल्यों का प्रभाव भिन्न-भिन्न युगों में भाषा एवं छन्दों के भिन्न-भिन्न प्रकारों के प्रयोग की प्रधानता में देखा जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने प्रतिपाद्य की अनुकूलता की दृष्टि से छन्दों के विभिन्न प्रकारों की प्रकृति पर विचार व्यक्त किए हैं। मम्मट के अनुसार करुण में मन्दाकान्ता और पुष्पिताग्रा, शृंगार में पृथ्वी, वीर में स्रग्धरा, शिखरिणी एवं शार्दूल-विक्रीडितम् का प्रयोग अनुकूल है।[1] ब्रज अवधी एवं प्रारम्भिक खड़ी बोली हिन्दी में वीर, अरिल्ल, छप्पय, रोला हरिगीतिका, अमृतध्वनि, घनाक्षरी आदि को वीर और रौद्र रस के अनुकूल कहा गया है।[2] यद्यपि खड़ी बोली में मुक्त छन्द में सभी प्रकार के भावों को अभिव्यक्ति दी गई है तथापि वर्णिक मुक्त छन्द को उदात्त एवं ओजपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल समझा गया है।[3]

औदात्य के सन्दर्भ में कविता में किसी विशेष छन्द या छन्दों का आग्रह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उदात्त तो विभिन्न विचारों, भावों और कृत्यों की अतिक्रामी या लोकातिशायी स्थिति का अभिधान है। ऐसे काव्य में छन्द एव प्रतिपाद्य, सगीत एवं चित्र अथवा कथ्य एवं कथन भंगिमा अलग-अलग अस्तित्व नहीं रखते। वे रचना प्रक्रिया में स्वयमेव जन्म एवं पुनर्जन्म लेते रहते हैं। उदात्त का स्रष्टा समर्थ कलाकार अपनी प्रकृति के अनुरूप एक दो छन्दों में ही विभिन्न भावों की व्यापकता एवं गहराई को लोकोत्तर अभिव्यक्ति दे सकता है (जैसे तुलसी का राम चरित-मानस) या प्रत्येक रचना में (निराला की तरह) अपूर्व अनाम छन्दों की सृष्टि कर सकता है। औदात्य का नियमातीत्य इसमें भी है। इतना भर निश्चित है कि उदात्त छन्दों की लय में न अत्यधिक स्प्रेणता हो सकती है और न अत्यधिक कर्कशता। उदात्तकाव्य विशिष्ट गरिमा, संयम एवं विवेक का काव्य है, अतः बाल-चापल्य, अतिशय क्षिप्रता या शिथिलता द्योतित करने वाले छन्दों का प्रयोग उदात्त के प्रतिकूल

---

१ शुक्ल, पुत्तुलाल, आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृष्ठ ४२
—लखनऊ, वि०—२०१४।

२ वही०, पृष्ठ ४६।

३ वही०, पृष्ठ ४७२।

सिद्ध होता है। संयुक्त या दीर्घ-स्वर ध्वनियों, विलम्बित गति की गरिमा वाले भाषा प्रवाहों (छन्दों) और अर्थानुगामिनी यतियों का अन्तः सामंजस्य उदात्त के अनुकूल कहा जा सकता है। 'वास्तव में संगीत की गरिमा, स्वर और व्यंजन दोनों की मैत्री पर निर्भर है..............उनकी ऊर्जस्थित संयोजनाओं के द्वारा ही उदात्त संगीत की सृष्टि सम्भव है।[१] और वह भी तब जबकि छन्द (या लय) एवं प्रतिपाद्य सहजोद्‌भूत हों, अविच्छेद्य हों।

(छ) उदात्त की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों की यह स्थापना कि 'अयथेष्ट (Inadequate) अभिव्यक्ति की दृष्टि से उदात्त कुरूप का अथवा कम से कम विरूप का सजातीय हैं,'[२] युक्तिसंगत नहीं। अयथेष्ट अभिव्यक्ति-जन्य कुरूपता कवि या कलाकार की अक्षमता का द्योतन करती है जबकि प्रातिभ-मौलिकता-जन्य अयथेष्ट अभिव्यक्ति' कथ्य की अपूर्वता-जन्य विवशता का परिणाम होती है। एक में साधक (कवि या कलाकार) का दारिद्रय प्रकट होता है दूसरे में साधन (भाषा) की सीमा या इयता प्रकट होती है।[3] 'केशव की कविताई' एवं 'निराला की अस्पष्टता' को 'सजातीय' नहीं कहा जा सकता। अतः उदात्त कुरूप या विरूप नहीं रूपातीत कहा जा सकता है। लौंगिनुस की यह उक्ति कि 'महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है' इसी सन्दर्भ में सार्थक है।[४]

यहीं यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि उदात्त के लिए गरिमामय रचना विधान की अपेक्षा है, परन्तु मात्र गरिमा-मय-रचना-विधान उदात्त की सर्जना के लिए अपर्याप्त है। प्रतिपाद्य का गरिमामय होना अनिवार्य है।

(ज) इस सन्दर्भ में एक अन्य प्रश्न भी विचारणीय है। हीगेल आदि विचारक कला की उत्कृष्टता का आधार उपकरण की आपेक्षिक सूक्ष्मता एवं आपेक्षिक न्यूनता मानते हैं। ललितकलाओं—(वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य) के क्रम में काव्य को इसी आधार पर उत्कृष्ट कहा गया है। काव्य भी

---

१ नगेन्द्र विचार और विश्लेषण, पृष्ठ ६५, दिल्ली—१९५५।

२ Bosanquet, Bernard. A History of Aesthetic, Page—356 New York—1961.

३ "Thus the irregularity and obscurity of such writings are due to the weakness of language, a weakness that is evidence of the greatness of soul of an original genius." —Monk, S. H., The Sublime, Page 131–32, Michigan—1960,

४ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ९६, दिल्ली—१९६१।

स्वभावतः वही उत्कृष्ट होगा जिसमें न्यूनतम शब्दों में अधिकतम को अभिव्यक्ति मिली हो। परन्तु उदात्त काव्य में मात्र अधिकतम अर्थ महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता, 'कितना कहा गया है' की अपेक्षा 'क्या कहा गया है' अधिक महत्त्वपूर्ण है, परिणाम की अपेक्षा गुण की महत्ता है।

भारतीय 'ध्वनि सिद्धान्त' की स्थापना में भी यही दोष प्रतीत होता है। वहाँ काव्य की उत्तमता का आधार व्यंजना है, कथ्य नहीं। माध्यम पर विचार की दृष्टि से ध्वनि सिद्धांत अप्रतिम है। परन्तु माध्यम साधन ही होता है, साध्य नही।

भारतीय काव्य-शास्त्र सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों में काव्य की उत्तम कोटि पर विचार नहीं किया गया।

वास्तव में उदात्त काव्य में कथ्य एवं कथन-भंगिमा अलग अस्तित्व नहीं रखते। भाषा काव्य का मात्र साधन या माध्यम नहीं होती। वह जहाँ एक ओर कथ्य को रूप देती है या उसका सृजन करती है तो वहाँ दूसरी ओर स्वयं रूपार्थवती·······गौरवान्विता होती जाती है। अपूर्व कथ्य अपूर्व भाषा को जन्म देता है। कथ्य एवं कथन की समृद्धि अन्योन्याश्रित है, वे भिन्न नहीं होते। अतः उदात्त के अभिव्यक्ति पक्ष का उपर्युक्त विवेचन उदात्त का नियामक नहीं निर्देशक समझना चाहिए। डॉ० रामकुमारसिंह ने जो बात सामान्य काव्य-भाषा के सन्दर्भ में कही है, वही उदात्त काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष के सन्दर्भ में अधिक सत्य है—'काव्य-भाषा को किसी प्रकार के विहित-नियमों में अनुशासित करना असम्भव है। उसकी कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।'[१]

१०. 'उदात्त का प्रभाव'

संस्कृत काव्यशास्त्र में उदात्त के प्रभाव का स्वतन्त्र एवं प्रत्यक्ष विवेचन नहीं है। उदात्त नायक से सम्बद्ध काव्यों एवं नाटकों में वीर, शृंगार (या करुण) में से किसी एक को अंगीरूप में चित्रित करने का विधान है। भोज ने उदात्त रस की परिकल्पना अवश्य की है। उदात्त का स्थायीभाव मति ठहराया है। पर इस रस की परिपुष्टि का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें राम के धैर्य और विवेक की ही ध्वनि निकलती है। डॉ० मनोहर काले ने ठीक ही लिखा है कि भोज का 'उदात्त रस' भरत मुनि की उदात्त-नायक की कल्पना से आगे नहीं जाता।[२]

---

१ सिंह, रामकुमार, 'आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा',—पृष्ठ ५२, कानपुर—१९६५।
२ काले, मनोहर, आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन,—पृष्ठ १९०, —दिल्ली—१९६३।

डॉ० नगेन्द्र ने वीर रस एवं 'अद्भुत' रस में उदात्त का यत्किंचित साम्य देखा है, परन्तु स्वयं उसे पर्याप्त भी कह दिया है।[1] मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्र विवेचकों ने, प्रकृति के 'यथावत्' चित्ताकर्षक' तथा 'भव्य दृश्यों' के वर्णन में 'उदात्त-रस' को मान्यता देने का आग्रह किया है।[2] स्पष्ट है कि 'उदात्त' शब्द का प्रयोग उन्होंने भिन्न अर्थ में किया है, इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं होता।

पाश्चात्य विचारकों ने औदात्य के सन्दर्भ में जितना विचार आलम्बन के स्वरूप पर किया है, इससे कहीं अधिक विचार उदात्त के प्रभाव की प्रकृति पर किया है। फलैक्कस ने ठीक ही कहा है कि उदात्त की समस्या मुख्यतः मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में ही विचाराधीन रही है।[3]

लोंगिनुस के अनुसार उदात्त की अनुभूति का अन्तिम रूप, ऊर्जा, उल्लास और संभ्रम आदि का सम्मिलित प्रभाव है, जिसे उसने 'विस्मय-विमूढ़ शब्द के द्वारा व्यक्त किया है।[4] बर्क ने 'विस्मय' (Astonishment) एवं सन्त्रास (Terror) को उदात्त का प्रमुख प्रभाव कहा है। बर्क के 'विस्मय' शब्द में भी 'भय' की मात्रा रहती है जिससे व्यक्ति विमूढ़ अथवा स्तब्ध रह जाता है,[5] अतः 'संत्रास' या भय को ही बर्क के अनुसार उदात्त का प्रभाव कहा जा सकता है। परन्तु यह संत्रास अन्ततः प्रमाता या आश्रय को एक तरह का उल्लास एवं मुक्त भाव ही दे जाता है।[6] काण्ट के अनुसार उदात्तानुभूति में क्षणिक अवरोध 'एवं तत्काल अधिक शक्तिशाली विसर्जन' (Momentary check at once more powerful discharge.) रहता है। आलम्बन के

---

१ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ २६, दिल्ली—१९६१।

२ काले, मनोहर, आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन —पृष्ठ १६१, —दिल्ली—१९६३।

३ Flaccus. L. W. The Spirit and Substance of Art, Page—260. New York—1941.

४ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १४, दिल्ली—१९६१।

५ Burk Edmund. A Philosophical Enquiry into the Origin of our Ideas of the Sublime and Beautiful, Page 57 (Ed. Boulton) —Columbia —1958.

६ Cassirer Ernst, The Philosophy of Enlightenment, Page 328–30 —Boston—1960.

प्रति क्रमेण, आकर्षण-विकर्षण, दोनों की अनुभूति रहती है।[१] ब्रेडले के अनुसार उदात्त की प्रत्येक प्रकार की, अनुभूति का प्रभाव 'असीमता'[२] एवं 'आपवादिक प्राबल्य' अथवा 'असाधारण शक्ति'[३] के रूप में होता है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार ब्रेडले के विवेचन में एक प्रकार से उदात्त-विषयक आधुनिक धारणाओं का सारांश निहित है।[४]

वास्तव में उदात्त-प्रभाव विषयक उपर्युक्त स्थापनाओं में आंशिक सत्य ही है एवं कुछ दृष्टियों से तो वे भ्रामक हैं। उदात्त के **प्रभाव को आलम्बन की लोकोत्तरता-जन्य-अभिभूति एवं उत्कर्षण** कहा जा सकता है। यह अभिभूति आलम्बन भेद से संश्लिष्ट-भावोद्बोध स्वरूपा भी हो सकती है और विशिष्ट भावोद्बोध स्वरूपा भी। कुछ उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

(क) उदात्त का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'विराट् पुरुष' की परिकल्पना है। विराट् परमतत्त्व का अप्रतिम प्रतीक है। विराट् की अनुभूति के प्रभाव को गीता (अ०-११) में 'विस्मयाविष्ट' 'हृष्टरोम', वेपमान', 'भीत भीत', आदि शब्दों में वर्णित किया गया है (गीता ११-१४ एवं ११-३५)। डॉ० रानाडे ने श्रद्धा, भय, आनन्द, आश्चर्य एवं प्रेम के सम्मिश्रण को उदात्तानुभूति कहा है।[५] यहाँ 'भय' शब्द विचारणीय है। बर्क ने भी 'संत्रास' (या आतंक) शब्द का प्रयोग किया है। ब्रेडले ने इसी आधार पर वर्क के सिद्धान्त की 'मान्यता को असंभव' बताया है।[६] कहा जा सकता है कि वर्क का उदात्त सम्बन्धी चिंतन अस्पष्ट (एवं भ्रामक) है, यद्यपि उसकी ऐतिहासिक महत्ता असंदिग्ध है। उदात्तानुभूति में 'भय' आश्रय की अकिंचनता एवं

---

१ Great Books of the Western World, 42, Kant; The Critique of Aesthetic, Judgement, Book II, Analytic of the Sublime. (Encyclopeadia Britanica—1952) Page—495.

२ Bradley, A. C. Oxford Lectures on Poetry, Page—63 —London—1955

३ —do— —do— Page—65.

४ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्व, पृष्ठ २२, दिल्ली—१६६१।

५ रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना —दार्शनिक,त्रैमासिक, —पृष्ठ ४, अक्तूबर—१६५५।

६ Bradley, A. C. Oxford Lectures on Poetry—Page—53-54 —London—1955.

आलम्बन की 'दुर्निरीक्ष्यता' (गीता, ११–१७) का द्योतक है, पलायन का प्रेरक नहीं। वास्तव में विराट् का यशोगान करता हुआ जगत् तो 'प्रहर्षित' एवं 'अनुरंजित' होता है। राक्षस 'भयभीत' हो दिशाओं में पलायन करते हैं (गीता–११–३६), क्योंकि उनके लिए वह भयानक है, उदात्त नहीं। उदात्तानुभूति में तो हम निर्भय एवं स्व-निरपेक्ष्य हो आलम्बन के साथ तदाकार होना चाहते हैं।[1] स्वामी रामतीर्थ का उच्छलायमान जलराशि के साथ तदाकार होना ऐसी ही अनुभूति का परिणाम था। कबीर भी निम्नलिखित दोहे में इसी बात की पुष्टि करते हैं—

'जा मरने ते जग डरे मेरे मन आनन्द।
कब मरिहों कब पाइहों पूरन परमानन्द ॥'

राक्षसों का 'भीत' हो दिशाओं में पलायन, एवं अर्जुन का 'भीत भीत' हो भगवान से 'विराट् रूप' को हटाने की प्रार्थना दो भिन्न कोटि की अनुभूतियां हैं। एक में 'भयानक' से आत्म रक्षा का भाव है और दूसरे में परमोदात्त के प्रति समर्पण की भूमिका एवं निमित्त मात्र' बनने की विनत स्वीकृति।

अर्जुन की प्रतिक्रिया एक अन्य तथ्य की ओर भी संकेत करती है। वह यह कि परमोदात्तानुभूति इतनी उत्कट अभिभूति है कि इसे अधिक समय तक नहीं सहा जा सकता। (हिमालय के उच्चतम शिखर पर हम कितनी देर टिक सकते हैं?) ब्रेडले ने इस बात को सब तरह की उदात्तानुभूति के साथ जोड़ा है, जो युक्ति-संगत नहीं।[2] निम्नलिखित विवेचन से यह पुष्ट हो जाता है।

(ख) उदात्त नायक अथवा शीलोदात्त का प्रभाव विशिष्ट भावोद्बोध-जन्य अभिभूति का होता है। विशिष्ट भाव, प्रेम, करुणा उत्साह आदि में से कोई भी हो सकता है, क्योंकि उदात्त नायक में 'मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य होती है।[3]

---

१ Santayana, George. The Sense of Beauty, Page—244—45
Dover, New York—1955.

२ Bradley, A. C. Oxford Lectures on Poetry, Page 65,
—London—1955.

३ शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृष्ठ ४२,—प्रयाग—१९५०।

यहाँ 'भय'[१] अथवा 'विकल्पेन आकर्षण-विकर्षण'[२] का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रभाव, परमोदात्तानुभूतिजन्य अभिभूति (अथवा विराट् के प्रभाव) के समान उत्कट नहीं होता, जिसे अधिक समय तक सहन करना कठिन होता है।

उदात्त चिन्तन चाहे परम तत्त्व केन्द्रित हो, चाहे मानव-केन्द्रित (जैसे-—'समता', 'स्वतन्त्रता' 'बन्धुत्व' आदि), जब-जब पुराने नियमों को नए आयाम देता है, अथवा उनकी 'हयता' प्रकटा कर नए नियमों को जन्म देता है, तब-तब चिन्तक या स्रष्टा को 'असीम उल्लास' चित्त-स्फीति' एवं 'स्फूर्ति' की अनुभूति होती है। सृजन से पूर्व किंचिदाशंका तथा सृजन-प्रक्रिया में 'प्रसव-पीड़ा' अन्य बात है। उदात्त का परिणाम या प्रभाव तो उन्मुक्तता एवं उत्कर्षण का है। 'भय' एवं 'क्षणिक अवरोध' आदि के लिए यहाँ भी स्थान नहीं है (ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रातिभ-चिन्तन से भी यही अनुभूति होती है, परन्तु वे काव्य का विषय यदा-कदा ही होते हैं)।

(ग) प्रकृति के उदात्त रूपों अथवा दृश्योदात्त में हम स्थिति से नहीं, अपितु आलम्बन के पीछे प्रतीयमान शक्ति से प्रभावित होते हैं। इसलिए दृश्योदात्त में एक प्रकार की रहस्यमयता बनी रहती है। सान्तायन ने ठीक ही कहा है कि 'आचार एवं विचार ही वास्तव में उदात्त हैं अन्य दृश्यमान वस्तुएं मात्र सादृश्य से' उदात्त कहलाती हैं।[३] आक्षितिज-विस्तृत ऊर्मिआलोड़ित समुद्र, प्रचण्ड-झंझावात एवं अभ्रंकष हिमशिखरों का प्रभाव, 'विस्मय विमूढ़' शब्द से प्रकट होगा, और 'देवतात्मा नगाधिराज', निर्मल चन्द्रिका, निर्लिप्त कमल,[४] तथा पवित्र गंगाजल का प्रभाव 'श्रद्धाभिभूत' शब्द से अभिव्यक्त होगा।

---

१ Burke, Edmund.. A Philosophical Enquiry into the Origin of our Ideas of the Sublime & Beautiful, Page—57 (Ed: Boulton), —Columbia—1958.

२ Great Books of the Western World, 42, Kant: The Critique of Aesthetic Judgement. Book II, Analytic of the Sublime, Page—495, (Encyclopeadia—1952).

३ Santayana, George. The Sense of Beauty, Page—239, Dover, New York—1955.

४ 'चन्द्रिका' एवं 'कमलिनी' को भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त–नायिका का योग्य उपमान बताया गया है देखिए :— Shastri S. N., The Laws of Sanskrit Drama, Vol. I, Page—403 —Varanasi—1961.

इस तरह जो एक बात इन सब उदाहरणों के प्रभाव में समान रूप से प्राप्य है, वह है—उदात्तालम्बन की लोकोत्तरता जन्य अभिभूति एवं उत्कर्षणात्मकता।

8-152 / 15

११.उदात्त-काव्य का प्रयोजन

हम 'प्रभाव' की चर्चा कर रहे थे। 'प्रभाव' का अर्थ है भाव का प्रकृष्ट होना, आश्रय (या सहृदय) का भाव विशेष की प्रकृष्टता के कारण पूर्व स्थिति से भिन्न स्थिति में पहुँचना। अतः प्रभावित होने या प्रभावित करने का अर्थ हुआ........बदलना।

जो विचारक कला मूल्यों की 'स्वनिष्ठता' पर बल देते हैं वे भी प्रभाव के उपर्युक्त अर्थ से असहमत नहीं हो सकते। 'कला या काव्य का अपना स्वनिष्ठ या अन्तरंग मूल्य है' आदि उक्तियों का अर्थ इतना ही है कि कला, धर्म, दर्शन एवं राजनीति आदि से भिन्न है, काव्य का काव्यत्व काव्य-गुणों पर आधारित है, दर्शन, राजनीति आदि पर नहीं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि कला या कविता निष्प्रयोजन है। 'जिस किसी सन्दर्भ में प्रयोजन के अभाव की कल्पना की जाती है, वहाँ अभाव का अर्थ केवल प्रच्छन्नता होता है।'[1]

H821.09/P925U

लोंगिनुस के अनुसार (उदात्त) काव्य का प्रयोजन 'आत्मा का उत्कर्ष है', अथवा सहृदय की आत्मा की उदात्त अनुभूतियों को उद्दीप्त करना ही उसकी सिद्धि है।[2] इसे किंचित अधिक स्पष्टता से समझा जाए।

कला, आचार, धर्म एवं दर्शन आदि के नियमों को नए आयाम देना अथवा उनका उत्कर्षक अतिक्रमण औदात्य है। आचार, धर्म एवं दर्शन आदि जहाँ मानव को किसी 'विशिष्ट सन्दर्भ में अर्थ देते हैं, वहाँ काव्य अपनी उत्कृष्ट स्थिति में उसके समग्र अस्तित्त्व को (संवेदना के स्तर पर) सम्पूर्णता में अर्थ देने का उपक्रम है। इसीलिए काव्यगत औदात्य संश्लिष्ट-मूल्य है। उदात्त-काव्य को सांस्कृतिक सम्पन्नता का काव्य कहा जा सकता है। यह आश्रय को 'अधिकाधिक उत्कृष्ट चैतन्य की ओर ले जाता है'।[3] औदात्य जितना आत्म-साक्षात्कार का उपक्रम है उतना ही आत्म परिष्कार एवं

---

१ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ ४, दिल्ली—१९६६।

२ नगेन्द्र (संपा०) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ३४, दिल्ली—१९६१।

३ पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, 'मानव पर्यपणा और दार्शनिक विमर्श'—पृष्ठ १९६ दार्शनिक, त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६६।

आत्मोत्कर्ष का। इसी अर्थ में वह 'लोकसंग्रहात्मक' एवं सत्कर्म सापेक्ष्य है। यही उसका प्रयोजन है।

१२. उदात्त और परम्परा

परम्परा से अभिप्राय सामान्यतः उन नियमों, विश्वासों, रीतियों, संस्कारों एवं सूक्तियों आदि से होता है, जो पीढ़ियों से किसी कुल, जाति या देश आदि में मान्य समझी जाती हैं। ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला आदि के क्षेत्र में ऐसी परिकल्पनाएं जिनमें परिवर्तित होते रहने पर भी तात्त्विक स्थापना या मूल-प्रक्रिया न्यूनाधिक रही हो, परम्परा-प्राप्त कही जा सकती हैं। संक्षेप मे कहें तो नैरन्तर्य का ही दूसरा नाम परम्परा है। परम्परा निर्जीव स्थिति का अभिधान नहीं है। जो नियम आदि स्थिर हैं, निर्जीव हैं, युगीन सन्दर्भ में नवीन सम्भावनाओं की दृष्टि से अक्षम ही नहीं अपितु अवरोधक भी हैं, फिर भी प्रचलित हैं, रूढ़ियाँ कहलाती हैं, उनका उच्छेद आवश्यक होता है, क्योंकि विकसन-धर्मा सृष्टि की गतिमयता में वे बाधा उत्पन्न करती हैं। रूढ़ि एवं परम्परा के अन्तर को भुला देने से कई वार परम्परा का भी विरोध किया जाता है।

परम्परा का अर्थ परिवर्तन-हीनता नहीं है। परिवर्तन या विकास तो निरन्तर होता ही रहता है। विकास की प्रक्रिया अवश्य भिन्न होती है। यह कभी मात्रात्मक होती है, कभी गुणात्मक। गुणात्मक विकास को परम्परा से विच्छेद समझ कर कई वार कुछ व्यक्ति परम्परा के आत्यन्तिक निषेध में गर्व करने लगते हैं। परन्तु यदि हम विना पूर्वाग्रह के देखें तो वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य से लेकर सन्त-साहित्य एव आधुनिक साहित्य तक एक नैरन्तर्य मिलेगा, क्योंकि प्रत्येक नया विकास (चाहे वह मात्रात्मक हो या गुणात्मक) परम्परा-मूल होता है, परम्परा में कुछ नया जोड़ता है, एवं परम्परा को नया अर्थ देता है। 'महाभारत' के कृष्ण, 'सूरसागर' के कृष्ण, और 'अन्धायुग' एवं 'कनुप्रिया' के कृष्ण में परम्परा की गतिमयता को, सातत्य को लक्षित किया जा सकता है।

परम्परा के विना, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, धर्म-दर्शन की········ संस्कृति की········परिकल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि ये सब प्रयोजन एवं प्रक्रिया-भेद से विभिन्न-क्षेत्रों में प्रयासों, अन्वेषणों एवं उपलब्धियों के नैरन्तर्य का ही परिणाम है। गतिमान सृष्टि-प्रक्रिया में मनुष्य की उपलब्धियां निरन्तर वस्तुस्थिति से छोटी पड़ती रहती है, और मनुष्य निरन्तर नए अर्थों

के अन्वेषण में लगा रहता है। सामान्य व्यक्ति (लेखक) बहुत बार वस्तुस्थिति से आँख मूँद कर परम्परा में जीना चाहता है और कई बार वस्तुस्थिति से आक्रान्त हो परम्परा मात्र का ही निषेध करने लगता है। परन्तु उदात्त का स्रष्टा न परम्परा में पलायन करता है और न परम्परा से पलायन करता है। वह जानता है कि दोनों ही स्थितियाँ 'असम्भव' हैं। एक में असंगत होकर अर्थ खो देने का भय होता है और दूसरे में 'विकेन्द्रित' होकर। अतः कठिन से कठिन संकट में भी, सतही तौर पर निराश प्रतीत होकर भी, वह गहरी निष्ठा एवं आस्था के फलस्वरूप, वस्तुस्थिति के समक्ष घुटने नहीं टेकता, पराजित नहीं होता।[1] उदात्त व्यक्ति वर्तमान की चुनौती को स्वीकारता है, नियमों को गहरा अर्थ देकर या नियमों की स्थापना से, मात्रात्मक या गुणात्मक रूप से परम्परा को समृद्ध बनाता है और भविष्य के लिए नए कीर्तिमान एवं मानदण्ड स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में वह युगों से संचित समष्टि चेतना के श्रेष्ठतम को तत्कालीन स्थिति के सन्दर्भ में 'अपूर्व' अभिव्यक्ति देता है। इस तरह परम्परा-मूल होकर भी उदात्त का स्रष्टा परम्परा में कुछ जोड़ता है, इसे नया जीवन और नई शक्ति देता है।

१३. उदात्त और प्रतिभा

औदात्य विवेचन के सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर, 'लोकोत्तरता' 'अतिशायिता', 'उत्कर्षण' एवं 'अतिक्रमण' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये सब शब्द इस बात की ओर संकेत करते हैं कि औदात्य प्रातिभ-कर्म है, 'महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है',[2] तथा औदात्य एवं प्रतिभा का अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

प्रतिभा उस सहजात वृत्ति या क्षमता का नाम है, जो किसी भी क्षेत्र में 'अपूर्वता' का प्रतिनिधित्व करती है, वह ऐसी नियमातीत-महत्ता की रचना-क्षमता है, जो मात्र शिक्षण एवं श्रम से अनधिगम्य है।

सामान्यतः बहुसंख्यक व्यक्ति 'नियम' को·······चाहे वह किसी भी क्षेत्र से सम्बद्ध हो·······अनुल्लंघ्य एवं अनुल्लघनीय 'आदेश' समझ लेते हैं।

---

१ तुलनीय—

वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,

—निराला, राम की शक्ति पूजा, अपरा—पृष्ठ ५२, प्रयाग, वि० २००२।

२ नगेन्द्र (सम्पा०), काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ५५, —दिल्ली—१९६१।

वास्तव में नियम तो, ज्ञात तथ्यों की प्रकृति का संदर्भ-विशेष में, निर्देशन-मात्र हैं। दूसरी ओर प्रतिभाशाली व्यक्ति उपेक्षित-यथार्थ (अथवा अज्ञात तथ्यों) का प्रवक्ता होता है।[1] अतः प्रतिभाशाली व्यक्ति द्वारा नवोपलब्ध तथ्य, ज्ञात तथ्यों की प्रवृत्ति या प्रकृति को नवीन सन्दर्भ दे देते हैं, जिससे 'नियम' या तो अपूर्व महिमा-मण्डित हो जाते हैं, या नए नियम जन्म लेते हैं। प्रतिभा इसी अर्थ में नियमातीत्य का प्रतीक है। नियमातीत्य एवं मात्र नियम-विरोध या नियमोल्लंघन में अन्तर है। नियम-विरोध की प्रेरणा में जहाँ निहित-स्वार्थ हुआ करते हैं, वहाँ नियमातिक्रमण का प्रयोजन रूढ़ियों एवं संकीर्णताओं का परिहार हुआ करता है। इसकी प्रेरणा बृहत्तर एवं महत्तर 'कर्त्तव्य-भावना' से उत्पन्न होती है, जिसे निष्ठा, आत्म-बलिदान आत्म-त्याग एवं दातृत्व आदि शब्दों के प्रयोग से अभिव्यक्त किया जा सकता है।[2] प्रतिभाशाली व्यक्ति सहज ही अपने क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों के जन्मदाता एवं नए युगों के प्रवर्तक सिद्ध हो जाते हैं।

प्रातिभ-कर्म के औदात्य पर विचार करते समय 'लोक-संग्रह' की धारणा भी विवेच्य है, क्योंकि हमने 'लोक-संग्रह' को उदात्त आचरण की कसौटी कहा है। वास्तव में लोक-सग्रह औदात्य का उसी रूप में अंग है जैसे निर्दिष्ट स्थल पर पहुँचने के लिए मध्यवर्ती स्थान। इस तरह एक दृष्टि से औदात्य लोक-संग्रह-सापेक्ष्य है। परन्तु मात्र लोक-संग्रह उदात्त का पर्याय नहीं है, क्योंकि उदात्त व्यक्ति का प्रेम अपनी लोकोत्तरता में प्राणी, पौधे एवं सम्पूर्ण-प्रकृति को भी अपर्याप्त समझ सकता है। शिवि का कपोत के लिए 'बलिदान'[3] या वाल्मीकि का निषाद को अभिशाप देना, मात्र 'लोक-संग्रह' शब्द से अभिव्यक्त नहीं होता। इस तरह् औदात्य लोक-सग्रहात्मक होकर भी लोक-संग्रहातीत एवं लोक-संग्रहातिशायी है। इतना निश्चित है कि उदात्त-प्रातिभ-कर्म कभी भी लोकापगामी नहीं हो सकते क्योंकि बलिदान हो या

---

१ देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ १६२, —सूचना–विभाग, उत्तर प्रदेश—१६५७।

२ Bergson, Henri. The Two Sources of Morality & Religion, Page—27 New York —1935,

३ Dowson, John A. Classical Dictionary of Hindu Mythology, and Religion, Geography, History & Literature, Page—300. London—1935.

अभिशाप, करुणा हो या क्रोध एवं त्याग हो या ग्रहण, उदात्त व्यक्ति के प्रत्येक कृत्य में अतिशायी उदारता, निष्कलुपता एवं सात्विकता[1] विद्यमान रहती है।

ऐसा नहीं कि उदात्त-प्रातिभ कर्म का विरोध नहीं होता, कबीर हो या तुलसी, ईसा हो या गान्धी, सभी को रूढ़िवादियों का क्षोभ सहन करना होता है। परन्तु प्रातिभ अभिव्यक्ति में कुछ ऐसा मन्त्र-मुग्धकारी वैशिष्ट्य रहता है, जिससे युगों तक, अधिकतर सामाजिक उसके स्मरण-मात्र से अभिभूत होते रहते हैं। उधर उदात्त व्यक्ति सामाजिक दबाव से परे आन्तरिक विवशता जन्य **महत्तर कर्त्तव्य-भावना** से चालित हो स्वकर्म में निरत रहता है, क्योंकि वह सद्य: फलाकांक्षा से उदासीन, मूल्यों के चरितार्थन में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति को उपेक्षित यथार्थ-अथवा अज्ञात तथ्यों……… का प्रवक्ता कहा गया है।[2] इस तरह काव्य के सन्दर्भ में प्रातिभ-कर्म अनभिव्यंजित अथवा अभिव्यंजनातीत की अभिव्यक्ति का उपक्रम है। सामान्य लेखक परम्परा-प्राप्त शब्दों, परिकल्पनाओं एवं साहित्यिक विधाओं की सीमा में रहता है। पूर्वजों द्वारा अर्जित विचार-राशि को वह अधिक से अधिक नई संघटना या नई कथन-भंगिमा दे देता है या दूसरे शब्दों में अन्वेपित क्षेत्रों को सजाता संवारता रहता है। इससे न्यूनाधिक सन्तोपजनक सफलता भी मिलती है। परन्तु समाज की ज्ञानराशि या भावबोध में किसी प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर उदात्त-लेखक के नवोपलब्ध तथ्य अथवा पूर्वाभिव्यक्त विचार यदि प्रचलित शब्दावली में अभिव्यक्ति पा सकें, तो इसे अप्रत्याशित सौभाग्य समझना चाहिए। बहुत बार वह शब्दों में बरबस नया अर्थ लेता है, और कई बार वह नए शब्दों का निर्माण करता है या रूढ़ एवं निर्जीव 'साहित्यिक' शब्दावली को छोड़ कर, गतिशील एवं जीवन्त लोकभापा का आश्रय लेता है। यह उसकी विवशता है, क्योंकि उसे अमूर्त का मूर्तन करना होता है, अनाम एवं अरूप को नाम रूप में बाँधना होता है।[3]

---

१ जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं, और जिस अन्तःकरणवृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्विक है।'
—शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि, पृष्ठ ४६, प्रयाग—१९५०।

२ देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ १९२, सूचना–विभाग, उत्तरप्रदेश—१९५७।

३ Bergson, Henri, The Two Sources of Morality & Religion Page—38 & 242—43 New York—1935.

प्रतिभाशाली की महत्ता ही इस बात में है कि वह इसमें सफल हो जाता है। नवोपलब्ध अर्थ उदात्त लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्दों का 'अनुधावन'[1] करते हैं। इससे सहृदयता को नया आयाम मिलता है। समाज की ज्ञान राशि एवं भावबोध में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति सहज भाव से वस्तुओं को देखता है। यह सहजता उसके प्रत्येक आचरण में द्रष्टव्य है। यही उसे उन जटिलताओं में से भी पार ले जाती है जिनके प्रति वह सचेत भी प्रतीत नहीं होता। परन्तु उसमें परिश्रम, धीरता एवं दृढ़-व्रतित्व अपरिहार्य है। प्रतिभा की एक परिभाषा ही है—"परिश्रम की असीम क्षमता"। इतना अवश्य है कि यह परिश्रम भी उसमें सायामलब्ध नहीं होता, उसका सहज स्वभाव होता है।[2]

प्रतिभाशाली व्यक्ति में अपने कृत्य एवं जीवन के प्रति अडिग आस्था एवं अदम्य आशावादिता रहती है। इसलिए काव्य के क्षेत्र में वह परम्परा-प्राप्त विषय-वस्तु एवं रूढ़-रचना-विधान का अतिक्रमण करता है। पुराने और नये का विवाद छोड़, सहृदय को स्वयं परीक्षा करके कृतियों के आस्वादन की चुनौती देता है।[3] उसे तात्कालिक उपेक्षा की भी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि

---

१ (क) भवभूति ने निम्नलिखित श्लोक में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

—उत्तररामचरित—१–१०

लौकिक साधुओं (सामान्य लेखकों) की वाणी अर्थ की अनुवर्तिनी होती है, अथवा ज्ञात की अभिव्यक्ति का प्रयास है, दूसरी ओर (नवोपलब्ध) अर्थ आद्य ऋषियों (प्रतिभाशाली लेखकों) की वाणी का अनुधावन करते हैं।)

(ख) इंगलिश की कहावत "Mistakes of greatmen are phrases" का सामान्य अर्थ तो इतना है कि बड़े व्यक्तियों की अशुद्धियां फैशन बन जाती हैं। परन्तु इससे यह तथ्य भी द्योतित होता है कि महान् व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध (?) शब्दावली नवीन अर्थ की अभिव्यंजिकाहो जाती है।

२ Bergson, Henri. The Two Sources of Morality and Religion. Page—37 & 221, New York—1935.

३ पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि सर्वं नवमित्यवद्यं।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ़ पर प्रत्यय नेय बुद्धि ॥ —कालिदास ॥

वह जानता है कि काल अनन्त है और देश असीम। अतः उसकी कृति का सम्यक् मूल्यांकन करने वाले समान धर्मा सहृदय अवश्य उत्पन्न होगे।[1]

जीवन के प्रति उसका प्यार और भविष्य के प्रति आशावादिता उस द्वारा जीवन के भयकर दुःखमय यथार्थ को झुठलाने का परिणाम नही होते। उसका औदात्य तो इसी में है कि वह दुःखों के निवारण एव कुरूपता के परिहार के लिए निर्भय से जूझता है।

आशावाद के पक्ष में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि कुछएक अस्वस्थ-मस्तिष्क व्यक्तियो के अतिरिक्त, मानव मात्र मे सामान्यतः जिजीविषा प्रबल रूपेण पायी जाती है। उदात्त व्यक्ति असाधारण रूपेण स्वस्थ-मस्तिष्क होता है, अतः आशावादी होना उसका सहज स्वभाव है। स्वस्थ मस्तिष्कता को परिभाषित करना कठिन है। फिर भी इसे पहचाना जा सकता है। इसकी अभिव्यक्ति कर्मण्यता मे, परिस्थितियों के साथ निरन्तर तालमेल एवं पुनः-पुनः तालमेल बैठाने मे, दृढ़ता एवं नमनीयता मे, सम्भव एवं असम्भव के पूर्वाभास की क्षमता में तथा ऐसी सहजता में है, जो अनायास ही जटिलताओं पर विजयी होती है। इसे एक शब्द मे' चरम-सद्-सज्ञान' (Supreme good sense) कहा जा सकता है।[2] उदात्त व्यक्ति अपने दुःखों को भी 'देहधरे का दण्ड' समझकर मुस्कराता हुआ झेलता है। चाहे उसका ईश्वर मे विश्वास हो या न हो, उसमे एक प्रकार की तर्कातीत निष्ठा अवश्यमेव होती है।

अन्त मे प्रातिभ-रचना अथवा उदात्त कृति के मूल्याकन का प्रश्न आता है। उदात्त के विवेचन मे स्थान-स्थान पर 'सर्वातिशायी' लोकोत्तर', 'नियमातीत, आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि उदात्त रचना का मूल्यांकन मात्र परम्परा-प्राप्त-नियमो या प्रतिमानो से नही हो सकता। ऐसी रचना मूल्यांकन के नए प्रतिमानो की प्रवर्तिका होती है। औदात्य के प्रतिमान स्वनिष्ठ होते है। उन्हे वही खोजना होता है। डॉ० मदान ने इस प्रक्रिया को 'कृति की राह से गुजरना कहा है।[3] यह स्थापना प्रातिभ-रचना के सन्दर्भ मे ही सत्य है, सामान्य अनुकृतियों के बारे मे नहीं, क्योंकि 'नियमातीत्य' एव 'नियमाभाव'

---

१ उत्पत्स्यते भमनु काऽपि समान धर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथिवी।

भवभूति, (मालतीमाधव १, ८ पृष्ठ १-८) बम्बई १६३६।

२ Bergson, Henri, The Two Sources of Morality & Religion, Page—217, New York—1935.

३ मदान, इन्द्रनाथ, कविता और कविता, —पृष्ठ ५, दिल्ली—१६६७।

दो अलग बातें हैं। और इस प्रक्रिया में वही समीक्षक सफल हो सकता है जो न नए से 'आतंकित' हो न पुराने से। जो न हीन भावना से ग्रस्त हो न मिथ्या दम्भ से, दूसरे शब्दों में जो सब प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त हो, उदार हृदय एवं प्रबुद्ध हो।

१४. समाहार

(क) उदात्त का सम्बन्ध मनुष्य की अर्थान्वेषी (मूल्यान्वेषी) वृत्ति से है। आचरण, चिन्तन और भाव के वे सभी रूप जो लोकोत्तर है या नियमातीत्य के द्योतक हैं, पुराने नियमों को गहरी अर्थवत्ता या नए आयाम देते हैं अथवा नए नियमों के प्रवर्तक हैं, उदात्त कहलाते हैं।

(ख) प्रकृति के अपरिमेय शक्ति, संख्या एवं विस्तार आदि से सम्बद्ध रूप मात्र स्वरूप-योग्यता के कारण उदात्त नहीं होते, जैसाकि कुछ पाश्चात्य विद्वान् प्रतिपादित करते प्रतीत होते हैं; अपितु महदुद्देश्यों के प्रतीक, 'अगम्य' के द्योतक अथवा उदात्त-चरित्रों के उपमान होने के नाते उदात्त कहलाते हैं।

आश्रय की मनःस्थित एवं संस्कार की वस्तुएँ को गुणमण्डित करते हैं। इस दृष्टि से 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' दोनों उदात्त के आलम्बन हो सकते हैं।

(ग) उदात्त के सुन्दर का प्रतिलोम' या 'कुरूप का सजातीय' समझना असंगत है, जैसाकि बर्क आदि कुछ पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं। वास्तव में उदात्त तो ऐसी लोकोत्तरता का द्योतक है, जो सुन्दर-कुरूप, पवित्र-अपवित्र एवं पाप-पुण्य आदि युग्मों से कहीं ऊँची एवं अतिक्रामी है। इस प्रकार वह सुन्दर, पवित्र, एवं पुण्य आदि की परिकल्पना को नए आयाम देता है।

(घ) उदात्त के प्रभाव को आलम्बन की लोकोत्तरताजन्य अभिभूति एवं उत्कर्षण कहा जा सकता है। यह अभिभूति आलम्बन के स्वरूप भेद से विशिष्ट-भावोद्बोधिनी भी हो सकती है और संश्लिष्ट-भावोद्बोधिनी भी।

पाश्चात्य परिकल्पना के अनुसार उदात्त का प्रभाव "विस्मय-विमूढ़" शब्द-युग से अभिव्यक्त हो सकता है। भारतीय परिकल्पना के अनुसार इसे मुख्यतः "श्रद्धाभिभूत" कर देने वाला कहा जा सकता है। इसमें चित्त की निर्मलता, शुचिता और समर्पण-भावना का प्राधान्य है।

(ङ) उदात्त का प्रयोजन आत्मसाक्षात्कार, आत्मपरिष्कार एवं आत्मोत्कर्ष होता है।

(च) उदात्त की (काव्यगत) अभिव्यक्ति या 'निर्मिति' के निश्चित उपकरणों और नियमों का निर्धारण सम्भव नहीं; सामान्य निर्देश मात्र हो सकता है।

(छ) उदात्त का स्रष्टा न परम्परा में पलायन करता है और न परम्परा से पलायन करता है। वह तो परम्परा में कुछ जोड़ता है, उसे नया जीवन और नई अर्थवत्ता देता है।

(ज) औदात्त्य प्रातिभ-कर्म है। यह अपने क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों का जन्मदाता एवं नए युगों का प्रवर्तक होता है।

(झ) उदात्त रचना का मूल्यांकन मात्र-परम्परा-प्राप्त प्रतिमानों से नहीं हो सकता। उदात्त के प्रतिमान स्वनिष्ठ होते हैं। उदात्त रचना पुराने प्रतिमानों को नई गरिमा देती है या नए प्रतिमानों की प्रवर्तिका होती है।

इस प्रकार 'उदात्त भावना' का उपर्युक्त विवेचन किसी सिद्धान्त विशेष की स्थापना अथवा भारतीय या पाश्चात्य मत की पुष्टि की अपेक्षा उदात्त के स्वरूप एवं प्रतिभा की प्रकृति को समझने का प्रयास है। उदात्त-रचना को पहचान सकने की दृष्टि का अन्वेषण है।

२

उदात्त-परम्परा

१. पुरातन काव्य में उदात्त भावना

प्राचीन भारतीय साहित्य बहुत विशाल है। यहाँ कतिपय अतीव महत्त्वपूर्ण कृतियों एवं कवियों की थोड़ी-सी उन विशेषताओं की चर्चा है, जो उदात्त की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है। निर्दिष्ट कृतियों का समग्रता में विवेचन न यहाँ सम्भव है न अभीष्ट। उन लेखकों या कृतियों की चर्चा अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से की जा रही है, जो आधुनिक कविताओं की प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः प्रेरणा स्रोत है या आधुनिक सन्दर्भ में अधिक अर्थवान एवं महत्त्वपूर्ण है।

२. वैदिक साहित्य

(क) वेद भारतीय साहित्य के प्राचीनतम एवं महत्तम ग्रन्थ हैं। प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादन की महिमा, वरिष्ठभाव या औदात्त्य ही इनकी अमर प्रतिष्ठा का आधार है।[1] ये सकीर्ण अर्थ मे धर्म-विशेष के परिचायक ग्रन्थ नहीं हैं, क्योंकि इनमें न तो किसी एक उपास्य या धर्म संस्थापक को प्रतिष्ठित करने का आग्रह है और न किसी विशिष्ट उपासना-पद्धति या धर्माचार की दीक्षा का प्रयास।[2] वैदिक साहित्य की व्याख्या चाहे हम पुरातन (सनातनी) दृष्टि से करें चाहे नवीन (समाजवादी) दृष्टि से, उसमें चित्रित जीवन-दर्शन या चिंतन उदात्त कल्पना-प्रसूत ही सिद्ध होता है।[3]

---

१ अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, इलाहाबाद—१९५८।

२ वर्मा, महादेवी, सप्तपर्णा, पृष्ठ १३–१४, दिल्ली —१९६०।

३ मोतीचन्द्र, भारतीय संस्कृति के प्राचीन आलोचक, पृष्ठ ८,

—धर्मयुग ,१३ नवम्बर, १९६६।

मनुष्य के लिए सबसे बड़ी समस्या या प्रश्न सृष्टि रहस्य है। इस समस्या को वैदिक ऋषियों ने 'महान् संप्रश्न' कहा है। इस संप्रश्न के साथ ज्ञान के उषाकाल में जिस साहस एवं निर्भीकता से जूझा गया है, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सहस्रों वर्षों की साधना के बाद भी, हम उससे आगे नहीं बढ़ पाए। नासदीय सूक्त का ऋषि कहता है—

"(सृष्टि के आरम्भ में) न सत् था न असत् था। न कहीं अन्तरिक्ष था न उससे परे व्योम। कौन कहाँ गतिमान था, किसकी किसको शरण थी ? जल और गम्भीर सागर उस समय क्या थे।"

× × ×

"कौन जानता है" और कौन कह सकता है ? कहाँ से यह सृष्टि उत्पन्न हुई ? देवता भी इसके जन्म के बाद हुए तो फिर कौन जाने यह कहाँ से विकसित हुई ?........यह सृष्टि कहाँ से फैली ? यह जन्मी भी है या नहीं। **परम व्योम में इसका जो अध्यक्ष है, वही इसे जानता है, पर वह भी जानता है या नहीं ?"**[१]

इस संप्रश्न को इस तरह अनुत्तरित छोड़ना सृष्टि रहस्य की अगाधता, अपरिमेयता एवं अनिर्वचनीयता आदि के समक्ष विस्मय-विमूढ़ता, अक्षमता एवं विनति की स्वीकृति है। मैटर लिंक ने इन उद्गारों को मानवीय-साहित्य में उदात्ततम माना है।[२]

परम व्योम के अध्यक्ष की एकता एवं अनेक-नामिता में विश्वास और उस अनन्त महिमामय को बहुविध प्रतीकों में प्रकट करने का प्रयत्न और उदात्तोचित उदार दृष्टि का परिणाम है। ऋग्वेद (१–१६४–४६) में स्पष्ट प्रतिपादन है:—

"... उसी एक को तो कोई इन्द्र कह लेता है तो कोई मित्र, कोई वरुण कोई अग्नि। और कोई उसकी पूजा आसमान का पंछी (गरुड़) कह कर, कर लेता है। तत्त्व एक ही है।

—` आ . कह लो, यम कह लो, मातरिश्वा कह लो:—

द कितना आ जाता है ?[३]"

र सभी प्रतीकों को परमतत्त्व का द्योतक समझना, प्रतीकों की

ा स्पष्ट बल देना उन्मुक्त दृष्टि का सूचक है।

— १ Mookerji —

१ ञशरण, कला और संस्कृति, पृष्ठ १९६, इलाहाबाद—१९५८।

२ २ Raja, C. Ku।

ेन भारतीय साहित्य, पृष्ठ ७८, —अनु० —

३ द्विवेदी, हजारी

वैदिक चिन्तन में, सृष्टि-प्रक्रिया के संचालक नियमों को 'ऋत' कहा गया है। 'ऋत' को जानना और उसके अनुसार ऋजुभाव से जीवन-यापन करना, ज्ञान का ऊँचा आदर्श है।[१] श्री राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार ऋत, सत्य, सुनृत (ऋग् १०.११७) आदि अमूर्त भाववाचक शब्दों का प्रयोग परमतत्त्व के लिए हुआ,[२] और यह चिंतन की सूक्ष्मता और उत्कृष्टता का द्योतक है।

वैदिक साहित्य में शक्तिमत्ता के आदर्श की उपासना है।[३] परिश्रम और वीरता, जीवन की सफलता एवं सार्थकता के लिए अनिवार्य समझे गए हैं। वैदिक ऋषियों की धारणा थी कि देवगण परिश्रमी व्यक्तियों के ही मित्र होते हैं (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा:, ऋग् ४-३३.११)[४] ऋग्वेद के ही में एक उत्कर्षक सूक्त में योद्धा का सम्बोधन करके कहा गया है—

> ········जाओ अक्षत ही लौटना,
> कवच की यह दृढ़ता तुम्हारे पर आँच न आने दे।
> तुम्हारे धन-धान्य का, अभ्युदय, विजय का मूल स्रोत
> एक ही है·······और वह है यह········तुम्हारी
> वीरता का प्रतीक·······धनुष।
> यह धनुष·······जो शत्रु के लिए दुख और कष्ट लाता है
> ········वीर की दिग्विजय का प्रतीक भी है, साधन भी।
> और धनुष की यह डोरी········
> (जैसे वीर के कान में कुछ कहने को)·······
> ········उसे आलिंगन करने को········
> बार-बार (किस तरह खिंची) आती है।
> यह डोरी सचमुच वीर की पत्नी है,
> विजय का मन्त्र भी इसे ही फूंकना आता है।[५]

१　अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, पृष्ठ १९८–९९, ...

२　Mookerji, Radha Kumud, Glimpses of Ancient ... ...पुरातन ... ...प्रत जीवन-दर्शन

३　अग्रवाल, वासुदेवशरण, कला और संस्कृति, पृष्ठ २००, ...१५८।

४　उपाध्याय, राम जी, भारत की संस्कृति साधना, पृष्ठ ४५।

५　विण्टर निट्ज़ प्राचीन भारतीय साहित्य, पृष्ठ ८५–८६— ... युग, १३ नवम्बर, १९६६।

उत्साह एवं उल्लास आदि उदात्त के सहज गुण इन पंक्तियों उत्कटता से प्रकट हुए हैं।

एक पूरा सूक्त (ऋग् ८-११७) 'दान' को सम्बोधित है। इसमें स्वयं ईश्वर को दुखियों के त्राता के रूप में चित्रित किया गया है और इस प्रकार दुखियों-दीनों की सेवा के माध्यम से ईश्वरीय आराधना के उदात्त आदर्श को प्रतिष्ठित किया गया है।[1]

ऋग्वेद में अनेकों प्रार्थना-परक ऋचाएं हैं, परन्तु कहीं भी जगत् से पलायन की प्रार्थना नहीं है। उनमें पूर्णता, प्रसन्नता, शुचिता और साहचर्य से जीवन-यापन की वलवती इच्छा ही अभिव्यक्त हुई है। ये प्रार्थनाएं अदम्य आशावादिता, तथा उल्लास और विस्मय भरे प्रकृति-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। प्राचीन साहित्यों में वैदिक साहित्य की यह अपनी अनूठी विशेषता है।[2]

वैदिक ऋषियों के लिए प्रकृति एक चेतन सत्ता है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में या प्राकृतिक व्यापारों में वे एक महान् व्यापक परम सत्ता के दर्शन करते हैं, भिन्न-भिन्न छोटे बड़े परस्पर स्वतन्त्र या अवलम्बित बहु देवताओं के नहीं।[3] इसीलिए प्रकृति के सभी रूप उन्हें समान रूप से प्रिय हैं। सभी रूपों के लिए उनके मन में विस्मयाविष्ट अपनत्व की भावना है। कोमल एवं परुष या सुकुमार एवं घोर, प्रकृति के दोनों रूप वैदिक कवि को कल्याण-कारक प्रतीत होते हैं। उषा से सम्बद्ध प्रार्थना (ऋग्वेद) की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

आ रही उषा ज्योतिः स्मित।
जो ऋत की चालक मानव-युग निर्मायक,
जो विगत उषाओं के समान सुखदायक,
भावी अरुणाओं में प्रथमा उद्भासित।
आरही उषा ज्योतिः स्मित।
....
कर देवि ! सुजाते ! ऐश्वर्यों का सम वितरण

---

१ Mookerji Radha Kumud. Glimpses of Ancient India, Page 120—21 —Bombay—1961

२ Raja, C. Kunban. Survey of Sanskrit Literature, Page 22 —Bombay—1962.

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, विचार प्रवाह, पृष्ठ १६, बम्बई—१६५६।

सविता साक्षी है हम सब के अकलुष तन मन,
....
करती ध्रुव अनुसरण सूर्य-किरणों का तू नित,
भद्रे । कर दे कर्म हमारे भद्र-निवेशित ।[१]

इन प्रार्थनाओं को कवि-कल्पना और भक्ति-भावना का सर्वोत्तम उदाहरण कहा गया है।[२]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समर्थ भापा (अनुवाद) में पर्जन्य देवता के वज्र-निनादी (परुष, घोर या रुद्र) रूप का एक उत्कर्षक उल्लास-भरा चित्रण इस प्रकार है—

"ऋग्वेद (५–८३, १–४) में उस वैदिक महाशक्तिशाली, महादाता और भीम गर्जनकारी पर्जन्य देवता की स्तुति की गई है, जो वृषभ के समान निर्भीक है और पृथ्वी तल की औषधियों में बीजारोपण करके नवीन जीवन की सूचना ला देते हैं। वे वृक्षों का ताड़न करते है, राक्षसों का वध करते हैं और अपने महान् अस्त्र से समूचे जगत् को त्रस्त-विकम्पित कर देते हैं। जब पर्जन्य देवता अपने भयंकर गर्जन के साथ असुरों पर वज्र प्रहार करते हैं, तो अनागस् या निरपराध लोग भी भय से काँप उठते है और सामने से भाग खड़े होते है। (मेघाडम्बर के भीतर जब विद्युत की रेखा आसमान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक नाचती रहती है, तो वस्तुतः उस समय) पर्जन्य देवता अपने शक्तिशाली घोड़ों पर कशाघात करते हुए उन्हें और भी तेजी से चलने को बाध्य करते हैं। इस प्रकार महारथी की भाँति वे अपने घोड़ों पर बिजली का कोड़ा मारते हुए असुर यूथ पर आक्रमण करते हैं। जब वे मेघाच्छन्न आकाश में गरजते होते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है, कि दूरस्थ अरण्य गुहा से सिंह दहाड़ रहा हो। अद्भुत शक्तिशाली हैं ये मेघ मण्डल के अन्तराल में शयान पर्जन्य देवता। उनके इंगित मात्र से बिजली कड़कती है, आँधी उमड़ती है, मेघ घुमड़ते हैं। एक ओर तो इनमें महारुद्र का भीम निःस्वन (आवाज़) है और दूसरी ओर पृथ्वी तल की औषधियों में रेत संचार करते रहने के कारण वे जगत् को अशेष कल्याण से मण्डित करते रहते हैं।"[३]

---

१ महादेवी (अनु०) सप्त पर्णा, पृष्ठ ७५, ७७, ७९, दिल्ली—१९६० ।

२ रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, रहस्यानुभूति गत उदात्त भावना—दार्शनिक, पृष्ठ ३, —अक्तूबर, १९५५ ।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, विचार-प्रवाह, पृष्ठ १४-१५, बम्बई, १९५९ ।

प्रकृति के परुष रूप में शिवत्व या कल्याणकारिता के दर्शन, वैदिक ऋषियों की सृष्टि-प्रक्रिया में अगाध-आस्था और जीवन के प्रति अदम्य आशावादिता के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार अग्नि के ऊर्जस्वी रूप-चित्रण में वैदिक कवि अपने उन्मुक्त हृदय के उल्लास को दीप्त वाणी मे अभिव्यक्ति देता है—

"वायु से प्रेरित भयंकर शब्द करता हुआ अग्नि अपनी छुरी-सी तीक्ष्ण जिह्वा से अनायास ही लकड़ियों में फैल जाता है। हे तेजमय ज्वाला वालो! अजर अग्नि! जब तू प्यासा होकर शक्तिशाली बैल की तरह वन के वृक्षों पर झपटता है, तब अन्धकार तेरा मार्ग हो जाता है।"[1]

प्रकृति के विविध रूपों के प्रति अगाध ममत्व के कारण, वैदिक ऋषियों ने देवताओं का वर्गीकरण भी प्रकृति मूलक किया है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, इन तीन स्थानों में तीन प्रकार के देव-वर्गों की स्थापना की गई है। आकाश में प्राय: जिन देवताओं की स्थापना की गई है, वे प्रकाश, नैतिक बल, गति, रक्षा, अमृत, स्फूर्ति, सौन्दर्य एवं सत्य आदि उदात्त कोटिक गुणों के अधिष्ठाता हैं। अंतरिक्ष के देव-मण्डल में प्राय: भौतिक पराक्रम आवेग, क्षोभ, संघर्ष एवं पार्थिव जगत् को अभिभूत करने वाले मनोभावों का प्राधान्य है। ये गुण उद्धत नायकों के हैं, उदात्त कोटिक नहीं, क्योंकि उदात्त नायक तो वीर, क्षमावान् अशरण-शरण अथवा लोक-संग्रहात्मिका वृत्ति वाला होता है। पृथ्वी में अधिष्ठान करने वाले देवताओं में तृप्ति, क्षमा, मैत्री, सौमनस्य एवं आत्मीयता आदि गुणों को प्रतिष्ठित समझा गया है।[2] ये वे उदात्त गुण हैं जिनकी प्राप्ति ऐहिक एवं आमुष्मिक जीवन की समृद्धि एवं उन्नति के लिए अनिवार्य है।

(ख) अथर्ववेद का 'पृथ्वीसूक्त' एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है जिसे विश्व-काव्य में स्थान दिया जा सकता है। यह उदात्त विचारों में समन्वित एक पर्याप्त लम्बी····तिरेसठ ऋचाओं की····कविता है। इसमें सर्वप्रथम पृथ्वीमाता का गौरव गान है तदन्तर उससे ज्योति, वर्चस्विता, औदात्य आदि गुणों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना है। कवि मुक्त कण्ठ से पहाड़ियों, हिमाच्छादित शिखरों, रथ, शकटिका (गाड़ी) एवं पदातियों के लिए बने मार्गों, युद्ध-विजयों एवं पृथ्वी के

---

१ रघुवंश, प्रकृति और काव्य (संस्कृत खण्ड), पृष्ठ १२४, प्रयाग—१९५१।

२ मिश्र, विद्या निवास, (प्रकृति वर्णन : काव्य और परम्परा) रूपाम्बरा, पृष्ठ ३७४, संपा० स० वात्स्यायन, काशी—१९६०।

संगीत नृत्य आदि का चित्रण करता है और पृथ्वी पर रहने वाली अगणित जातियों, उनके भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों-बोलियों एवं निर्वैर जीवन-यापन का यशोगान करता है।[१]

अथर्ववेद में (१०-८) ही सम्पूर्ण सृष्टि को काव्य का रूपक (रूपकातिशयोक्ति) देकर काव्य एवं सृष्टि दोनों को ही गौरवान्वित किया गया है—

देवस्य पश्य काव्यम्
न ममार न जीर्यति ।।
(देखो तुम उस सृजन शील का काव्य मनोहर
अमर और नित नूतन जो रहता है निर्जर)[२]

अथर्ववेद की ही नीचे दी गई दो प्रार्थनाओं में निर्भयता एवं कल्याण-कामना जैसी भावनाओं को सहज समर्थ अभिव्यक्ति दी गई है—

(१) यह उन्नत आकाश
और यह धरती जैसे
भीति रहित हैं और
निरन्तर रहते अक्षय
वैसे ही हे प्राण, अबाधित तेरी गति हो
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय ।।[३]

(२) दिशि दिशि मेरे लिये अभय हो।
....
नहीं मित्र से भीत, शत्रु से निर्भय हो मन,
ज्ञात और अज्ञात न कोई भय का कारण,
शंका रहित रात मेरी हो,
दिन मुझ को कल्याण-निलय हो ।।[४]

---

१ Raja C. Kunhan, Survey of Sanskrit Literature, Page 29, —Bombay—1962,

२ महादेवी, सप्तपर्णा, पृष्ठ १०४, दिल्ली—१९६०।

३ महादेवी, सप्तपर्णा, पृष्ठ १०५, दिल्ली—१९६०।

४ (क) महादेवी, सप्तपर्णा, पृष्ठ ९७, दिल्ली—१९६०।
(ख) इससे बड़ी कोई प्रार्थना वैदिक आर्यों ने नहीं की, इससे बड़ा कोई आदर्श नहीं पाया, ऐसी मेरी धारणा है।' —अज्ञेय,
—आत्मनेपद, पृष्ठ २०२-२०३, काशी —१९६०।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद में पर-अनिष्ट से सम्बद्ध कुछ ऐसे मन्त्र या ऋचायें भी हैं, जो कि लोकापगामी हैं, संकीर्णता की द्योतक हैं और इसीलिए अपकर्षक एवं अनुदात्त हैं।[1]

(ग) वैदिक साहित्य में वेद (संहिता या मन्त्र भाग) के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ एवं उपनिषद् साहित्य भी गृहीत है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की प्रधानता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में दार्शनिक अध्यायों के रूप में आरण्यक और उपनिषद हैं।[2] ब्राह्मण ग्रन्थों की परिणति ब्राह्मणवाद में हुई, और इस अधोगति का सूचक परिवर्ती काल में प्रसिद्ध यह श्लोक है—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्॥

अर्थात् संसार देवताओं के अधीन है, देवता मन्त्रों के और मन्त्र ब्राह्मणों के, इसलिए मानना चाहिए कि ब्राह्मण देवता हैं।

(घ) ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत (आरण्यकों एवं) उपनिषदों में जीव, ब्रह्म और विश्व आदि के बारे में सूक्ष्म एवं उन्मुक्त-चिन्तन है। भारत का बहुचर्चित अध्यात्म उपनिषदों की ही देन है। यहाँ के (बौद्धों और जैनों को छोड़ कर) सभी दार्शनिक सम्प्रदाय उपनिषदों में ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[3] श्री अरविन्द ने बौद्ध धर्म को भी उपनिषदों से निःसृत बताया है।[4]

उपनिषद साहित्य "एक ऐसे सौन्दर्यात्मक मन की कृति है, जो दुर्लभतम आध्यात्मिक आत्मदर्शन के आश्चर्य और सौन्दर्य को तथा आत्मा, परमात्मा और जगत् के गहनतम प्रोज्वल सत्य को प्रकट करने के लिए अपने साधारण क्षेत्र से ऊपर उठकर उसके परे पहुँच गया है।"[5] उपनिषदों की रचना में एक प्रकार की अपरिमेय परिपूर्णता, उज्ज्वलता, सारगर्भी-संक्षेप एवं पारदर्शिता है।[6] इसकी शब्द-योजना में अर्थ-गर्भ नीरवता है, जो चिन्तन की उच्चता में,

---

१ शर्मा, कृष्णलाल, वैदिक साहित्य में शकुन तथा अद्भुत घटनाएं, —सहारनपुर—१९७०।
२ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ—१५९, बम्बई—१९४८।
३ द्विवेदी हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १५९, बम्बई—१९४८।
४ श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, —पृष्ठ ३२३-२४, पांडिचेरी—१९६८।
५ वही०, पृष्ठ ३२२-२३।
६ वही०, पृष्ठ ३२७।

देर तक हृदय को झंकृत, विस्मित एवं श्रद्धाभिभूत किए रहती है। उपनिषदों को "भारतीय प्रतिभा की सर्वोच्च आत्माभिव्यक्ति और उसका उदात्ततम काव्य"[1] कहा जा सकता है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, उपनिषदों के चिन्तन से अनुप्राणित है।

आधुनिक काल में भी सांस्कृतिक नवजागरण एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय उपनिषदों में प्रतिपादित चिन्तन के सहारे भारत विश्व भर की जातियों में आत्म-सम्मान को प्रतिष्ठित कर सका है। स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के माध्यम से उपनिषदों (वेदान्त) के प्रतिपाद्य ने सम्पूर्ण आधुनिक भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है। हिन्दी के छायावादी काव्य में अभिव्यक्त "अध्यात्म" और रहस्य-भावना मुख्यत: उपनिषदों की ही देन है।

(२) महाभारत

(क) महाभारत को मात्र एक ग्रन्थ या महाकाव्य कहना पर्याप्त नहीं है। यह तो अनिवार्यत: भारतीय संस्कृति का ही दूसरा नाम है। मध्य-एशिया या दक्षिण-एशिया में जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति है वहाँ-वहाँ महाभारत है।[2] विद्वानों में यह उक्ति ठीक ही प्रसिद्ध है कि "यन्न भारते तन्न भारते" अर्थात् जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में भी नहीं है। महाभारत की मूल कहानी कौरव पाण्डवों के युद्ध से सम्बद्ध है, परन्तु इसके चतुर्दिक वीरता, प्रेम वैराग्य एवं तत्त्ववाद आदि के अनेकों उपाख्यान आ जुड़े है, जिन्हें महत्त्व की दृष्टि से महाकाव्य के भीतर महाकाव्य का नाम दिया गया है। इनमें शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल एवं सावित्री आदि से सम्बद्ध उपाख्यान उत्कृष्ट कवि-कल्पना की उपज है। सावित्री और सत्यवान की कहानी के बारे में विण्टरनित्ज़ का कथन है—"कोई महान् कवि ही इस उत्कृष्ट महिला-चरित्र को इतने मनोमोहक और आकर्षक ढंग से चित्रित कर सकता था और शुष्क उपदेशक की मनोवृत्ति में पड़े बिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिवृत्य की विजय दिखला सकता था।"[3]

(ख) महाभारत में सावित्री ही की कोटि के अनेकों अन्य उज्ज्वल चरित्र हैं, जो राग, संयम, वीरता, क्षातृत्व एवं कर्त्तव्य-परायणता आदि उदात्त-

---

१ वही०, पृष्ठ ३२२।

२ मुकर्जी, राधाकमल, भारत की संस्कृति और कला, दिल्ली—१९५९।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, —पृष्ठ १७७, बम्बई—१९४८।

गुणों के उत्कृष्टतम प्रतीक कहे जा सकते हैं। युधिष्ठिर, अर्जुन, कर्ण, भीष्म एवं द्रोण आदि ऐसे ही नाम हैं। इसीलिए महाभारत को उज्ज्वल चरित्रों का वन कहा गया है।[१] इन उज्ज्वल चरित्रों में उदात्ततम या परमोदात्त चरित्र श्रीकृष्ण हैं, जिनमें पार्थिव सुख-समृद्धि, शारीरिक शक्ति-सौन्दर्य, मनस्विता, विवेक एवं आनन्द-भावना आदि (पाँचों कलाओं के गुणों) का पूर्ण विकास है।[२] सम्पूर्ण भारतीय-साहित्य में कृष्ण से उदात्ततर चरित्र की परिकल्पना नहीं मिलती। धार्मिक दृष्टि से राम और कृष्ण में चाहे अन्तर न हो, परन्तु उदात्त व्यक्तित्व की दृष्टि से कृष्ण की तुलना में राम नहीं आते। राम का औदात्य जहाँ नियमों की पराकाष्ठा तक के पालन में है, वहाँ कृष्ण का औदात्य नियमातिक्रमण एवं नियमों से खिलवाड़ करने में है। राम में आनन्द कला का विकास उस मात्रा में नहीं मिलता, जिस मात्रा में कृष्ण में है। कृष्ण तो परम प्रेमास्पद एवं आनन्दरूप हैं। महाभारत के अन्य उज्ज्वल चरित्र अर्जुन, युधिष्ठिर, भीष्म, कर्ण आदि—कृष्ण के समक्ष खर्वित प्रतीत होते हैं, यद्यपि कृष्ण से परे रखने पर वे अपने-अपने क्षेत्र में अतीव महिमावान हैं।

महाभारत के नायकों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने कभी भी दुःखों से बचने के लिए संन्यास की या जीवन से पलायन की बात नहीं सोची। वन में हों या महल में, वे हर स्थान पर विषमताओं से जूझते और लोहा लेते हैं।[३] इन नायकों के समक्ष पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं है। जीवन की चेष्टाएं बार-बार असफलता की चट्टान पर टकरा कर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता।[४]

(ग) चिन्तनगत औदात्य की दृष्टि से भी महाभारत कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए महाभारत को पाँचवां वेद कहा गया है।[५] तत्कालीन जीवन की सभी दृष्टियों का विशाल फलक पर समग्रता में आकलन महाभारत का वैशिष्ट्य है। परन्तु इसका मूल स्वर निष्काम कर्त्तव्य-परायणता का,

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १७७, बम्बई—१९४४।

२ विस्तार के लिए देखिए—म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी कृत—'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पृष्ठ २३५-४३, पटना—१९६०।

३ Raja C. Kunhan, Survey of Sanskrit Literature, —Page 82, —Bombay—1962.

४ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १७८, बम्बई—१९४८,

५ वही०, पृष्ठ १७४।

अन्याय को चुनौती देने का और सत्पथ पर आने वाली विपत्तियों को, परिणाम की चिन्ता किए बिना, हँसते-हँसते झेल जाने का है। इस दृष्टि से महाभारत का उज्ज्वलतम अंश भीष्म पर्व का वह भाग है, जो श्रीमद्भगवद् गीता के नाम से विख्यात है। इसमें भी ग्यारहवाँ अध्याय, जहाँ विराट् पुरुष की अनुपाख्याता चित्रित है, अप्रतिम है।[१]

(घ) प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी महाभारत में उदात्तोचित समग्र-ग्राहिता है। सभी ऋतुओं, पर्वत-नदियों, वृक्ष एवं लताओं, निदाघ के जाज्वल्यमान दिनों और शरत की मधुर चाँदनी रातों आदि का मानव-जीवन के साथ इस तरह तादात्म्य चित्रित है कि जड़चेतन, विकसित-अविकसित आदि का भेद ही दृष्टिगोचर नहीं होता।[२] (भारतीय काव्य शास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों में प्रकृति के विभिन्न रूपों के चित्रण का जो विधान है, उसकी महत्ता कवि की इसी समग्र-ग्राही दृष्टि के संकेतित करने में है)।

(ङ) महाभारत की शैली में शुद्ध ओजस्विता एवं दीप्ति का प्राधान्य है। कहीं भी भाषा कर्कश या शिथिल नहीं। शब्दों के प्रयोगों में सर्वत्र शालीनता एवं औचित्य की गरिमा है। कृष्ण के प्रभुत्व की ओर संकेत करते हुए कवि मात्र एक विशेषण····अप्रमेय····का प्रयोग करता है। और यह एक ही विशेषण बिना किसी आलंकारिकता या कृत्रिमता के कृष्ण की लोकोत्तरता द्योतित करने में समर्थ है।[3] कथ्य एवं कथन भंगिमा दोनों दृष्टियों से महाभारत अपनी ख्याति के अनुरूप अप्रतिम उदात्त कृति है।

(३) रामायण

(क) महाभारत की ही भाँति रामायण ने भी भारतीय जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। प्रत्येक युग के लेखक इन दोनों ग्रन्थों से चालित, प्रेरित एवं प्रभावित हुए हैं। उदात्त जीवन की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के प्रमुख पात्र—कृष्ण और राम एक-दूसरे के पूरक हैं, एक ने अदम्य जिजीविषा के सन्दर्भ में नियमों की इयता सिद्ध की और दूसरे ने नियमों को अपूर्व महिमा से मण्डित किया। दोनों चरित्र व्यक्तित्व की लोकोत्तरता में उदात्त हैं। कृष्ण में आनन्द पक्ष राम की अपेक्षा अधिक विकसित है। नियमों के अपालन में

---

१ रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, दार्शनिक त्रैमासिक, पृष्ठ ७ जुलाई,—१९५५।

२ Raja C. Kunhan. Survey of Sanskrit Literature. Page 61-62 —Bombay—1962.

३ Aurobindo. Vyasa & Balmiki, Page 12,13 & 19, Pondichery—1964

अपनी लोकोत्तरता प्रकट करने के कारण महाभारत के कृष्ण आराध्य हैं, और नियमों के पालन में अप्रतिम होने से रामायण के राम अनुकरणीय। राम हमारे अधिक समीप हैं। परवर्ती काल में दोनों अवतार माने गए हैं, परन्तु कृष्ण तो साक्षात् भगवान हैं।

(ख) रामायण की "आदि-काव्य" और वाल्मीकि की आदि-कवि के रूप में ख्याति है। यद्यपि वाल्मीकि भी ऋषि थे, परन्तु रामायण की परिकल्पना समाधि-स्थिति से उद्भुत न होकर क्षोभ से, करुणा एवं क्रोध से, चालित हृदय की प्रतिक्रिया है। स्थिति-विशेष में निमग्न क्रौञ्च की हत्या करके निषाद ने मानव की सौन्दर्य चेतना एवं कोमल भावनाओं को अपमानित किया है, मर्यादा भंग की है। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि का मानवीय हृदय निषाद को 'शाश्वत अप्रतिष्ठा" का शाप देता है।

(ग) राम के रूप में, वाल्मीकि ने एक ऐसे नायक की परिकल्पना की है, जो मर्यादा-पालन एवं नैतिकता की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अप्रतिम है। आदिकाव्य के प्रारम्भ में वाल्मीकि नारद से पूछते दिखाए गए हैं कि लोक में ऐसा आदर्श पुरुष कौन है जिसमें समस्त प्रख्यापित श्रेष्ठ गुण पाए जाते हैं। वाल्मीकि स्वयं निवेदन करते हैं कि उनकी दृष्टि में गुणवान्, वीर, धर्मवेत्ता, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रती, समस्त प्राणियों का हित करने वाला, क्रोधहीन, परन्तु क्रोध आने पर देवताओं को भी भयभीत कर देने वाला व्यक्ति आदर्श है। इसके उत्तर में नारद राम का वर्णन करते हैं—"राम गम्भीरता में समुद्र की भाँति हैं, धीरज में हिमालय के समान, वे क्रोध में कालाग्नि के सदृश हैं और क्षमा में पृथ्वी की तरह। बल एवं पराक्रम में राम विष्णु के समान हैं।........"

रामायण में इसी आदर्श पुरुष के चरित्र का चित्रण है। विभिन्न घटनाओं के माध्यम से ये सभी गुण राम के चरित्र में व्यक्त होते दिखाई देते हैं।[1] वे सब दृष्टियों से पूर्ण अतिमानव नहीं हैं। उनमें मानव सुलभ दुर्बलताएं भी हैं, परन्तु सापेक्ष्य दृष्टि से उनका व्यक्तित्व सुन्दर, शील लोकोत्तर, लोक-मंगल-विधायक तथा शक्ति अजेय है।[2] पिता की अनुच्चरित आज्ञा से (उनके

---

१ देवराज, भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक में) पृष्ठ ४४–५०
—सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश—१९६१।

२ वर्मा, महादेवी, सप्त पर्णा, पृष्ठ २४–२५, दिल्ली, १९६०।

वचनों को सच्चा सिद्ध करने के लिए) शान्त भाव से वन-गमन, उदात्त अनासक्ति का निदर्शन है। राम के लिए राज्य और वनवास में कोई अन्तर नहीं है। दोनों जगह वे अनासक्तभाव से कर्म में निरत रहते हैं। वन में रह कर भी वे कर्मठ अशरण-शरण जीवन-यापन करते हैं। संन्यास या पलायन उनका आदर्श नहीं है।[1] हर स्थान पर वे उदात्त क्षात्र धर्म के प्रतीक हैं, लोक नायक एवं लोक रक्षक हैं। सीता हरण एवं लक्ष्मण मूर्च्छा आदि पर राम का शोक-संतप्त रूप उन्हें मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित रखता है। कुल मिलाकर राम पुरुषोत्तम हैं, उदात्त हैं, जबकि कृष्ण का रूप अति मानवीय है। उन्हें लौकिक नियमों से नहीं परखा जा सकता।

निःस्पृहता की दृष्टि से राम से भी अधिक भरत का चरित्र उदात्त है, परन्तु भरत के चरित्र का विकास उतना सर्वांगीण नहीं है, जितना राम के चरित्र का।

(घ) कलापक्ष की दृष्टि से भी रामायण उतनी ही उदात्त है। वाल्मीकि की भाषा मे सरल सहज दीप्ति है। उसने छोटे-छोटे प्रायः समास-विहीन पदों में और छोटे-छोटे छन्दों में राम-कथा की गरिमा को अक्षुण्ण रखा है। सौन्दर्य बोध की दृष्टि से रामायण का स्थान महाभारत से ऊँचा है। इसीलिए रामायण को आदि काव्य की संज्ञा दी जाती है, जबकि महाभारत की गणना पुराणों में की जाती है। पात्र, कथ्य, प्रकृति-चित्रण एवं कथन भंगिमा-सभी दृष्टियों से रामायण उदात्त कृति है।

(ङ) महाभारत और रामायण में एक आधारभूत अन्तर है। महाभारत का संघर्ष मूलतः एक ही संस्कृति....परिवार....के अन्तर्विरोधों का संघर्ष है। उसका कथानक जटिल और अनेकों न्यूनाधिक महत्त्वपूर्ण उपाख्यानों से विजड़ित है, अतएव एक तरह से दृष्टि को धुँधला सकता है। रामायण का संघर्ष दो सभ्यताओं—दो जीवन दृष्टियों का संघर्ष है। इसका कथानक अपेक्षाकृत सरल है, और उदात्त मर्यादा-स्थापन की दृष्टि से अद्वितीय है। काव्य-शास्त्रियों ने 'रामायण' के आधार पर ही "महाकाव्य" के लक्षणों को निर्धारित किया है।[2]

---

१ Raja C. Kunhan. Survey of Sanskrit Literature, Page 71,
—Bombay—1960.

२ उपाध्याय, बलदेव, आलोचना, त्रैमासिक, पृष्ठ ३१, दिल्ली—१६५६।

(४) कालिदास

कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल के प्रतिनिधि हैं। उनकी रचनाओं के कथानक यद्यपि महाभारत, रामायण एवं अन्य पुराणों से ही मुख्यतः सम्बद्ध हैं, परन्तु इनकी सौन्दर्य-चेतना अप्रतिम है। नीति, तत्त्वबोध, आदर्शवादिता एवं सौन्दर्य चेतना आदि गुण कालिदास की रचनाओं में इतने उत्कृष्ट स्तर पर हैं कि इन्हें सहज ही भारतीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कहा जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दृप्त है, जो कुछ महनीय है और जो कुछ ललित और मोहन है, उसका प्रयत्नपूर्वक सजाया सँवारा रूप कालिदास का काव्य है।'[1]

(क) कालिदास की रचनाओं का मूल एवं प्रमुख स्वर प्रेम का जीवनानन्द का है। 'मेघदूत,' 'कुमार सम्भव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' एवं "विक्रमोर्वशीय" आदि पुस्तकों में प्रेम की महिमा का ही नाना रूपों में चित्रण है, परन्तु कहीं भी वह लक्ष्यहीन विलास मात्र नहीं है। 'मेघदूत' जैसे विरह काव्य में भी मार्ग-परिचय के व्याज से विभिन्न स्थानों और उनके निवासियों के प्रति कवि के आत्मीय भाव को और उसकी उदार सौन्दर्य दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। यक्ष के विरह-भाव में वेदना है, पीड़ा है, पर हताश नाम मात्र को भी नहीं।

(ख) कालिदास के प्रेम-व्यापार-चित्रण में प्रायः ही वात्सल्य का योग रहता है। इससे प्रेम में स्वच्छता, कोमलता और पवित्रता अनायास ही आ जाती है। प्रेम की परिणति भी प्रायः परिणय एवं मातृत्व में होती है।[2] इसका उत्कृष्ट निदर्शन विश्वविख्यात नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है। नाटक के चौथे अंक में शकुन्तला के पितृ-गृह से पति-गृह की ओर प्रस्थान का मर्मस्पर्शी-चित्रण है। भारतीय विद्वान् इस अंक के चार श्लोकों को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बेजोड़ मानते हैं। इनमें संसार से विरक्त महर्षि को भी वात्सल्य से अभिभूत चित्रित कर गृहस्थ जीवन के कोमलतम क्षणों को अपूर्व अभिव्यक्ति दी गई है। पुस्तक के अन्त में पुनः वात्सल्य के माध्यम से दुष्यन्त-शकुन्तला-मिलन दिखाया गया है। इस सारे प्रेम और वात्सल्य-व्यापार के

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कालिदास का लालित्य योजना, पृष्ठ ३, वाराणसी,—१९६५।
२ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कालिदास की लालित्य योजना, वाराणसी—१९६५।

चित्रण में प्रकृति का मानवीय व्यापारों से ऐसा सहज तादात्म्य चित्रित है कि सम्पूर्ण कथानक एक विश्वाश्लेषी, विशाल फलक पर घटित होता दिखाई देता है। मनुष्य और प्रकृति, धरती और स्वर्ग एवं मर्त्य तथा अमर्त्य, सब एक ही प्रवाह का अंग बन गए हैं। मुग्धा शकुन्तला के रूप में कालिदास ने एक अमर नारी पात्र की सर्जना की है।[१] कालिदास की कल्पना का उत्कर्ष इस बात में भी है कि उन्होंने असंयत, क्रोधी, पौराणिक ऋषि, दुर्वासा की अवतारणा करके एक ओर दुष्यन्त के औदात्य की रक्षा की और दूसरी ओर प्रेमातिरेक में निमग्न शकुन्तला द्वारा मर्यादा भंग (अतिथि-उपेक्षा) को दोष नहीं रहने दिया। नाटक की परिणति तपस्या की ज्योति से विशुद्ध-प्रेम की विजय में होती है, जिसमें वात्सल्य का भी योग है।

(ग) 'कुमार संभव' काव्य भी एक विश्वव्यापी पट-भूमि पर अंकित है। इस काव्य का मूल विचार गम्भीर और चिरन्तन है। समस्या यह है कि पाप-दैत्य को पराजित करने के लिए जिस वीरता की आवश्यकता है, वह कैसे उत्पन्न हो ? शिव और पार्वती के रूप में, इस काव्य में कवि ने दिखाया है कि त्याग के साथ ऐश्वर्य का, तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म हो सकता है जिसके द्वारा मनुष्य का सब प्रकार की पराजय से उद्धार हो सकता है।[२] शिव और पार्वती से सम्बद्ध होने पर भी 'कुमार-सम्भव' में भक्ति का प्राधान्य नहीं, अपितु जीवनानन्द या प्रेम का साम्राज्य है। इतना ही नहीं इसमें एक अन्य दृष्टि से प्रेम की सन्यास पर विजय दिखलाई गई है।[३] कालिदास की अन्य रचनाओं—मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान-शांकुन्तलम्....में भी सन्यास जीवन का सहयोगी बनकर ही कृतार्थ हुआ है। यह भी उदात्त जीवन दृष्टि का परिणाम है।

(घ) 'रघुवंश' को श्रेष्ठ राजनीतिक महाकाव्य कहा जा सकता है।[४] इसमें एक विख्यात, समृद्ध राजवंश के अभ्युदय और ह्रास की कहानी है। अभ्युदय या प्रगति के मूल में, जिस उदात्त जीवन-दृष्टि की आवश्यकता है, उसका चित्रण दिलीप से (रघु, अज, दशरथ और) राम तक राजाओं के चरित्र

---

१ Ruben, Walter, Kalidas (The human meaning of his works) Page 3, —Berlin—1957.

२ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कालिदास की लालित्य योजना, पृष्ठ ७१, वाराणसी—१९६५।

३ Ruben, Walter, Kalidas (The human meaning of his works) Page 38, —Berline—1957.

४ भट्टाचार्य, विश्वनाथ, आलोचना (त्रैमासिक) पृ० ५२, दिल्ली—१९५९.

में चित्रित है। राम, रघुवंश के उज्ज्वलतम रत्न हैं। कालिदास के अनुसार आदर्श (उदात्त) राजा सफल एवं कर्मठ शासक हैं, जीवन के प्रति उनमें स्वस्थ उपभोग का दृष्टिकोण है। वे आत्म-निर्भर तेजस्वी, पुरुष-पुंगव हैं और उन सब गुणों से विभूषित हैं, जो उनके विजयोल्लसित, प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित हैं। उदाहरण के लिए दिलीप का चित्रण इस प्रकार है—"वह निर्भय होकर अपनी रक्षा करता था, रोगहीन रह कर धर्मानुष्ठान करता था, बिना लोभ के अर्थ संचय और बिना आसक्ति के सुखों का अनुभव करता था, ज्ञान रहते हुए भी वह मौन रहता था, शक्ति रहते हुए भी क्षमाशील था।"[1] दूसरी ओर अग्निवर्ण के माध्यम से कालिदास ने ऐसे अनुदात्त राजा का चित्रण किया है, जो अमर्यादित रूपासक्ति, विलासिता एवं क्षुद्र वासनाओं का दास है। इसका अनिवार्य परिणाम ध्वंस एवं विनाश है। इस प्रकार इस काव्य में कवि की जीवन दृष्टि एवं सौन्दर्य-बोध को सम्पूर्ण-जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत देखा जा सकता है।

इस तरह रघुवंश में भी कालिदास का प्रेम स्वस्थ जीवनोपभोग का पर्याय है। सभी काव्यों में अमर्यादित रूपासक्ति को तिरस्कृत किया गया है और विशुद्ध-प्रेम में जीवन की सफलता और सार्थकता चित्रित की गई है।[2]

(ङ) कालिदास की नायिकाएं सामान्यत: नवनीत-कोमला, कुसुमादपि मृदु, ललिता मुग्धाएं प्रतीत होती हैं, परन्तु संकटों में उनका औदात्य उभर कर सामने आता है। इस दृष्टि से 'कुमार सम्भव' में चित्रित पार्वती का चरित्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

(च) कालिदास के प्रकृति चित्रण में भी स्वस्थ उपभोग और आनन्द के भाव का प्राधान्य है। प्रसन्नता, पवित्रता एवं आत्मीयता के साथ-साथ कालिदास द्वारा चित्रित प्रकृति पाठकों में श्रद्धावनति का भाव जागृत करती है। 'कुमार संभव' का हिमालय वर्णन, उदात्त चित्रण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम श्लोक से ही "पूर्व और पश्चिम के तोयनिधियों का अवगाहन कर, पृथ्वी के मानदण्ड के समान भारत की उत्तर दिशा में स्थित देवतात्मा, नगाधिराज, हिमालय" पाठक को अपनी लोकोत्तरता से अभिभूत करने लगते हैं।

---

१ देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृष्ठ, ६५–६६, दिल्ली—१९६६।

२ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, कालिदास का लालित्य योजना, पृष्ठ ४, —वाराणसी—१९६५।

(छ) कालिदास की अपूर्वता प्रतिपाद्य के अतिरिक्त प्रतिपादन भंगिमा में भी है। उन्होंने 'मेघदूत' के रूप में एक नए काव्य-रूप को जन्म दिया, "रघुवंश" के रूप में एक की अपेक्षा अनेक राजाओं को एक महाकाव्य का नायक बनाया तथा अपने अन्य कथानकों में मर्त्य और अमर्त्य को, पृथ्वी और स्वर्ग को, एक ही मंच पर अद्‌भुत सफलता से प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त कथ्य की गरिमा के अनुरूप इनकी सौन्दर्य-चेतना प्रभूत एवं विविध....कोमल, विराट्, उज्ज्वल एवं अपूर्व....उपमाओं के माध्यम से सहज एवं मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है।[१] संस्कृत काव्य में कालिदास की-सी प्रसन्न, परिष्कृत और सुगम काव्य-भाषा का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।[२]

(५) भवभूति .

उदात्त परम्परा के सन्दर्भ में भवभूति की प्रसिद्ध कृति 'उत्तर राम-चरित' एक नया कीर्तिमान प्रस्तुत करती है। उस पुस्तक में राम के चरित का वह अंश प्रधान है, जहाँ लोकाराधनव्रती राम को आदर्शों का पालन करने के लिए अपनी प्रियतमा सीता से सम्बद्ध लोकापवाद की दारुण व्यथा को झेलना पड़ा। भवभूति वाणी एवं स्त्री के साधुत्व के सन्दर्भ में लोक की दुर्जनता या अत्यधिक क्षुद्रता से पूर्णतः परिचित थे।[३] इसीलिए वे समाज (लोक) के अपवाद से त्रस्त व्यक्ति की पीड़ा को मार्मिक अभिव्यक्ति दे सके। राम ने एक ओर लोकाराधन के लिए सीता का परित्याग कर आदर्श की रक्षा की, दूसरी ओर अश्वमेध यज्ञ मे स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित कर सीता की निष्कलुषता एवं निजी प्रेम की एकनिष्ठता को प्रतिष्ठित किया। लोक के अन्याय का यह मूक-विरोध था। मर्यादा पालन के असिधारा व्रत पर चलते हुए भी राम का हृदय शूद्र-मुनि, शम्बूक पर शस्त्र चलाने को उद्यत नही होता। पर मन मार कर राम को यह भी करना होता है। शूद्र और नारी की दुरवस्था के प्रति कवि की ऐसी सहानुभूति प्राचीन काव्य में दुर्लभ है।[४] यहाँ राम का औदात्य मर्यादा पालन में नही अपितु लोकोत्तर प्रेम एव अगाध करुणा में है, जिससे सम्पूर्ण पुस्तक आप्लावित है।

---

१ श्री शशिभूषणदास गुप्त ने 'उपमा कालिदासस्य' (दिल्ली—१९६२) शीर्षक पुस्तक में कालिदास के इस पक्ष का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, कवि निराला, पृष्ठ ८७, वाराणसी—१९६५।

३ "यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जनः", उत्तर राम०।

४ दिनकर, पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ १२, पटना—१९५८।

इस उदात्त कृति से "काव्य शास्त्र" के इतिहास में नए नियम जन्म लेते हैं। श्रृंगार या वीर रस को प्रामुख्य देने के नियम का अतिक्रमण कर भवभूति ने प्रथम बार करुण रस को प्रधान रस के रूप में प्रतिष्ठित किया और राम के मर्यादा पालक रूप की अपेक्षा करुणोदात्त रूप को वाणी दी।

कलापक्ष या सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से भवभूति में कालिदास की-सी सूक्ष्मता और परिष्कार नहीं है। परन्तु जिस प्रबलता, सहजता, एवं मार्मिकता से उन्होंने राम कथा के इस करुण अंश को अभिव्यक्ति दी है, वह संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपूर्व है। (कुछ स्थलों पर गद्यश्रुता आवश्यकता से अधिक लगती है)।

भवभूति का प्रकृति-चित्रण भी कालिदास की तुलना में परुष एवं अनलंकृत है, परन्तु उसमें एक सहज गरिमा सर्वत्र है। इसलिए संस्कृत साहित्य में उसका भी अपना ही स्थान है।

इन कालजयी कृतियों के अतिरिक्त संस्कृत के कतिपय अन्य काव्यों में भी औदात्य का चित्रण अनेक स्थलों पर मिलता है।

पाली भाषा में उपलब्ध बौद्ध साहित्य में भी आचरण एवं चिन्तन के क्षेत्र से सम्बद्ध औदात्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। स्वयं महात्मा बुद्ध का चरित्र शताब्दियों से धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य के पुजारियों को अभिभूत करता आया है। परन्तु बौद्ध साहित्य सर्वत्र उदात्त नहीं है। अत्यन्त निवृत्ति-परकता, एवं विशाल भिक्षु-वाहिनी को जन्म देने वाला चिन्तन देश और धर्म दोनों के लिए अनर्थक सिद्ध हुआ है। इसका प्रभाव हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य पर भी बहुत हितकर सिद्ध नहीं हुआ।

(६) हिन्दी भक्ति-साहित्य

हिन्दी में यद्यपि सिद्धों, नाथों एवं अन्य आदिकालीन दरबारी कवियों की रचनाओं में भी यत्तत्र उदात्त चित्रण का कुछ अंश खोजा जा सकता है, परन्तु हिन्दी का भक्ति साहित्य इस क्षेत्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। यह अनायास ही हमें आकर्षित एवं उत्कर्षित करता है। इसका कारण यह है कि भक्ति साहित्य 'अत्यन्त संवेदनशील प्राणधारा से उद्वेलित और महान् भावनाओं से अनुप्राणित है।' इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है। भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच का भेदभाव न होने से इस साहित्य में उदार आशावादिता, स्वास्थ्य-भावना एवं नई स्फूर्ति देने की शक्ति है। इस साहित्य की भाषा अकृत्रिम, लोक जीवन की तरह सहज और

प्रसन्न है। लोक प्रचलित काव्य रूपों के साथ जीवन के बड़े लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आगई है।[१]

(क) कबीर—इस काल के सबसे अधिक तेजस्वी, शक्तिशाली एवं मौजी कवि, सन्त कबीर हैं। कबीर का औदात्य उनकी सहज पारदर्शी प्रतिभा में है, जो सब प्रकार के मतवादों की रूढ़ियों और नाना धार्मिकों द्वारा प्रचारित जड़ प्रतीकों पर विना किसी झिझक या संकोच के प्रहार कर सकती है। पण्डित, पीर, मुनि, अवधूत, पुराण, कुरान·······कोई भी उनकी सहज दृष्टि को अवरुद्ध नहीं कर सका। वे सब पर खुल कर चोट करते हैं, परन्तु इन चोटों में कहीं भी हीनता-ग्रन्थि नहीं है। वे पाठक को उन्मुक्तता और स्वस्थ स्फूर्ति का बोध कराती हैं, अतएव उदात्त है और इसीलिए संसार में जहाँ कहीं भी इस क्रान्तदर्शी कवि की रचना गई है, इसने लोगों को प्रभावित किया है।[२]

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, फिर भी जीवन के सब से बड़े ज्ञान······· 'ढाई अच्छर प्रेम के'·······सागर में वे सिर से पाँव तक डूबे हुए थे। स्वयं प्रियतम ने उन्हें उस अपूर्व रग में रंग दिया था—

सतगुर हो महाराज साईं मो पै रँग डारा।
सबद की चोट लगी मेरे भीतर बेंध गया तन सारा॥
साहिब कबीर सरब रँग रँगिया
सब रँग ते रँग न्यारा।[३]

यह उनके अतिक्रामी व्यक्तित्व की महिमा है कि वे सभी रँगों में रँगे जाकर भी सभी रँगों से 'न्यारे' थे। न हिन्दू, न मुसलमान, न हठयोगी, न वैष्णव, न गृहस्थी, न संन्यासी, न द्वैतवादी, न अद्वैतवादी—वे सब कुछ थे और सब कुछ से 'न्यारे' थे, सब कुछ से ऊपर थे और सब की सीमाएं जानते थे। अतएव धर्म-साधना एवं साहित्य-सर्जना, दोनों में वे युग प्रवर्तक थे। पर-पक्ष का खण्डन या उच्छेद कवीर-साहित्य का प्रासंगिक अंश है, फिर भी वह पाठक को जड़ता से मुक्त करता है अतएव उदात्त है। परन्तु जब-जब वे उससे विरत हो भक्ति भावना या प्रेम में लीन हुए हैं, वाणी और भी कृतकृत्य हुई है—

---

१ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, उसका उद्‌भव और विकास, पृष्ठ ८७–११०, —दिल्ली—१९५२।

२ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, उसका उद्‌भव और —और विकास, पृष्ठ १२२। —दिल्ली—१९५२।

३ कबीर ग्रन्थावली, प्रयाग, १९२८।

पंजर प्रेम प्रकासिया अन्तरि भया उजास ।
मुखि कसतूरी महमही वाणी फूटी वास ॥[1]

आत्मानुभूत सहज कथ्य के अनुरूप सहज भाषा की सर्जना[2] कबीर के औदात्य का अतिरिक्त प्रमाण है । यदि कहीं भाषा व्याकरण सम्मत नहीं भी है, तो इससे कबीर का कथ्य अपहृत नहीं हुआ, उसका सौन्दर्य अक्षुण्ण रहा है ।

कबीर या अन्य सन्त कवियों की रचनाओं में सब कुछ उदात्त ही नहीं है । जहाँ-जहाँ वे 'जीवन की असारता' का लम्बा चौड़ा चित्रण कर, सहृदय को संसार से आत्यन्तिक निवृत्ति की ओर प्रेरित करते हैं, वहाँ उदात्त नहीं है, क्योंकि औदात्य तो स्वस्थ, प्रवृत्ति-परक, उत्कर्षण का अभिधान है । ऐसी रचनाएं वहाँ तक ही उदात्त हैं, जहाँ तक वे स्थूल विषयासक्ति से उबार कर सहृदय को उच्च मूल्यों के लिए जीने में प्रवृत्त करें । परन्तु जीवन-मात्र से विरक्ति, ईश्वरोपासना के नाम पर पलायन, या पलायन के लिए ईश्वरोपासना उदात्त नहीं है । स्वयं कबीर इस बात की साक्षी देते है—

भागे भली न होयगी कहाँ धरोगे पाँव ।
सिर सौंपो सीधे लड़ौ, काहे करौ कुदाँव ॥[3]

इसीलिए वे स्वयं निश्शंक भाव से 'बेहद के मैदान' में रमण करते हैं । उनका आदर्श सामान्य पवित्रता-अपवित्रता के नियमों से कहीं ऊँचा, अतिक्रामी एवं उदात्त है—

निर्मल भया तो क्या भया निर्मल मांगे ठौर ।
मल निर्मल ते परे जे तो साधु कोई और ॥[4]

(ख) सूरदास—सूर-काव्य लीलागान का काव्य है । निखिलानन्द सन्दोह भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं के गान के व्याज से उनके प्रति एकांत आत्म समर्पण की अभिव्यक्ति ही सूर काव्य का प्रतिपाद्य है । यशोदा, राधा, गोपियाँ, ग्वाल-बाल एवं नन्द····सभी के माध्यम से सूरदास का अपूर्व तन्मय भक्त-चित्त ही शतशत रस स्रोतों में प्रवाहित और उच्छलित हुआ है ।

प्रतिपाद्य के साथ तादात्म्य की अथवा········वात्सल्य, सख्य एवं कान्ता भाव में······ आत्म समर्पण की ऐसी स्वच्छ, मार्जित, प्रसन्न एवं उत्कर्षक

---

१ श्यामसुन्दर दास (संपा०) कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३, प्रयाग—१९२८ ।
२ द्विवेदी हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ९८ बम्बई—१९४८ ।
३ श्यामसुन्दर दास (संपा०) कबीर ग्रन्थावली ।
४ श्यामसुन्दर दास (संपा०) कबीर ग्रन्थावली,

अभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।[१] वस्तुतः 'वात्सल्य' 'सख्य' या मात्र 'भक्ति' आदि कहने से सूर के प्रतिपाद्य की अपूर्वता एव अप्रतिमता का समुचित बोध नहीं होता। इसीलिए सूर के प्रशंसकों ने इसका नाम 'उज्ज्वल रस' या 'मधुरा भक्ति' दिया है। सूर-काव्य जैसे काव्य के सन्दर्भ में ही भक्ति को 'रसराज' कहना संगत सिद्ध होता है।

बाल-लीला या 'वात्सल्य भाव' के चित्रण की दृष्टि से सूरकाव्य 'संसार का अद्वितीय काव्य'[२] है। इस काव्य में जीवन की अन्य सब वृत्तियों को अपना सहायक या अवयव बना लेने वाले, प्रेम की कितनी ही ऐसी मन:स्थितियों का सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण है, जिनके विवेचन के लिए आचार्यों को काव्य शास्त्र में नाम तक नहीं मिलते।[३] इस प्रकार सूर काव्य अपने क्षेत्र में ऐसा कीर्तिमान प्रस्तुत करता है कि परवर्ती हिन्दी कवियों की उस क्षेत्र की कृतियाँ फीकी एवं इनकी जूठी-सी[४] प्रतीत होती है।

उपमाओं और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाट, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार इस तरह सूर-काव्य के प्रतिपाद्य का सहज अग बन गए हैं, उसमें घुल मिल गए हैं कि सतर्क हुए विना उनका भान ही नहीं होता।[५] उदात्त की दृष्टि से यह कवि सूर की स्पृहणीय उपलब्धि है। कथ्य के साथ इस तरह का तन्मय, सहज और प्रसन्न, तादात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए सूर को 'काव्य-गगन का सूर' कहा जाता है।

(ग) **तुलसीदास**—विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से तुलसी की महत्ता का गुणगान किया है। उन्हें 'महात्मा', 'लोकनायक', 'समाज सुधारक', 'समन्वयवादी पंडित', 'मर्यादा संस्थापक', 'मानव-प्रकृति का अद्भुत ज्ञाता' एवं 'विश्वकवि' आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[६] फिर भी तुलसी की

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास), पृष्ठ—१७८–८५ —दिल्ली—१९५२।

२ वही०, पृष्ठ १७९।

३ शुक्ल, रामचन्द्र, भ्रमर गीत सार, पृष्ठ ६, बनारस, वि० २००६।

४ वही०, पृष्ठ ११।

५ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ १८५, —दिल्ली—१९५२।

६ शुक्ल, केसरीनारायण (संपा०), मानस की रूसी भूमिका, परिशिष्ट, लखनऊ—१९५५।

अपनी सीमाएं हैं। परम्परा-प्राप्त में से सार ग्रहण करने वाली और निस्सार को तिरस्कृत करने वाली कबीर की सी पारदर्शी दृष्टि इनमें नहीं है।[1] इसीलिए इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'रामचरित मानस' में परिहार्य रूढ़ियाँ आगई हैं, जो बुरी तरह से खटकती हैं। सूर की तरह सर्वदा अपने कथ्य के रस में डूबे रहने की प्रवृत्ति भी इन में नहीं है। क्योंकि स्थान-स्थान पर इनके व्यक्तित्व का जागरूक 'पंडित' पर-पक्ष का मूलोच्छेद करने को कटिबद्ध दिखाई देता है। इसीलिए विशुद्ध आनन्द की दृष्टि से सूर का स्थान अप्रतिम है। परन्तु प्रतिपाद्य की सर्वव्यापी महत्ता ने तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध कर दिया है। राम-कथा में मानवीय अभिरुचि की व्यापकता, विविधता एवं मार्मिकता की अभिव्यक्ति के जितने सुअवसर हैं, वे कबीर और सूर के प्रतिपाद्य में नहीं हैं और तुलसी ने उनका जिस समर्थ ढंग से सदुपयोग किया है, वह अपूर्व है।

उदात्त काव्य की दृष्टि से 'रामचरित मानस' नितान्त निर्दोष कृति नहीं है। इसमें जहाँ एक ओर लोकभाषा को अपना कर जड़-पण्डितों की रूढ़िवादिता को चुनौती दी गई है, वहाँ पौराणिक रूढ़ियों के आग्रह से कथ्य के प्रतिपादन में आई बाधा का (जड़ता का) ध्यान नहीं रखा गया। अपहरण से पूर्व सीता का अग्निप्रवेश दिखाना, और उसकी मायाकृति का अपहरण चित्रित करना, तदनन्तर शोकग्रस्त राम का चित्रण करते करते सदा याद दिलवाते रहना कि 'राम तो ईश्वर हैं, मात्र लीला कर रहे हैं' आदि ऐसे स्थल हैं जो किसी भी कृति के लिए, मानवीय पक्ष की दृष्टि से, शोभन नहीं हैं। इतने पर भी यदि 'रामचरित मानस' का मानवीय पक्ष अपहृत नहीं हुआ तो यह रामकथा-महिमा की और महाकवि तुलसी की पुराण-पन्थी तुलसी पर विजय है। इसी प्रकार तुलसी की वर्ण-व्यवस्था-प्रियता एवं पुराण-पंथिता ने उससे नारी एवं शूद्र[2] आदि के सम्बन्ध में भी ऐसी बातें कहलवाई हैं, जो किसी भी कम समर्थ कृति को जड़ बना देतीं। परन्तु तुलसी के भक्ति-सिद्धान्त में ही प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष-रूपेण पौराणिक रूढ़िवादिता का विरोध है। भक्ति सिद्धान्त के अनुसार मानव के उत्कर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन

---

१ शुक्ल, केसरीनारायण (संपा०) मानस की रूसी भूमिका, परिशिष्ट पृ० १६८ (एडमिन ग्रीन्स का मत, लखनऊ—१९५५।

२ (क) भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखति नारी।
होय विकल सक मनहिं न रोकी, जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी।
(रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड, १६–३)

(ख) पूजिय विप्र सील गुण हीना, शूद्र न गुण-गन ज्ञान प्रवीणा।
(रामचरित मानस, अरण्य काण्ड ३३–१)

व उपादान भगवद् भक्ति है।[1] वहाँ स्त्री या पुरुष अथवा ऊंच या नीच का कोई भेद नहीं। इसीलिए भरत, लक्ष्मण, निषाद् शबरी, विभीषण और हनुमान........राम को सभी प्रिय हैं। राम का विरोधी होने के कारण, रावण, ब्राह्मण होते हुए भी, राक्षस है और राम भक्त होने के कारण शबरी, भीलनी एवं नारी होते हुए भी, उत्कृष्ट हैं। वास्तव में तुलसी-साहित्य सम्पूर्ण हिन्दू-संस्कृति का, उसके सम्पूर्ण गुण दोषों और अन्तर्विरोधों समेत सच्चा निदर्शन है। यही उसकी महत्ता और यही उसकी सीमा है। कबीर और सूर का काव्य इतना बहुपक्षीय नहीं है, परन्तु अतीव उदार है। इसीलिए इनके प्रतिपाद्य ने परवर्ती मुस्लिम कवियों को भी आकर्षित किया है। परन्तु जिस प्रकार टॉलस्टाय रूसी साहित्य के इतिहास में अपनी सम्पूर्ण सीमाओं के बावजूद गोर्की एवं चेखोव आदि से महान् समझे जाते हैं, उसी प्रकार तुलसी उपर्युक्त सभी सीमाओं के बावजूद कबीर एवं सूर आदि से उत्कृष्ट समझे जाते हैं।[2] अस्तु।

कथ्य की गरिमा ने अतिरिक्त तुलसी की महत्ता चरित्र चित्रण में है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की तुलना संसार के गिने चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है। उनके सभी पात्र उसी प्रकार हाड़ मांस के जीव हैं, जिस प्रकार काव्य का पाठक। वे आगे बढ़ते है, पीछे हटते हैं, अपनी उदात्तवाणी और स्फूर्तिप्रद क्रियाओं में हम में ऊपर उठने का उत्साह भरते हैं।........उनकी अलौकिकता हमारी नगण्यता को नहीं, हमारी ग्राहिका शक्ति को उत्तेजित करती है। हम उसी मार्ग पर चलने को आतुर हो जाते हैं।'[3]

इन पात्रों में सबसे प्रमुख राम हैं। 'रामचरित मानस' नाम ही यह घोषित करता है कि इस ग्रन्थ में राम के लोकोत्तर चरित को चित्रित करने का उपक्रम है। तात्विक दृष्टि से तो राम "विधि-हरि-संभु नचावन हारे" हैं, परन्तु अद्भुत् एवं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे पुरुषोत्तम हैं। उदात्त व्यक्तित्व में जितने और जिस प्रकार के गुणों की परिकल्पना की जा सकती है, राम उनकी साकार प्रतिमा हैं। शक्ति, शील और सौन्दर्य तो वाल्मीकि के

---

१ देवराज, भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक में) पृष्ठ २०१ सूचना विभाग, —उ० प्र०—१९६१।

२ आजकल इस स्थापना पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगा है।। —लेखक।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) पृष्ठ २३७-३८, —दिल्ली—१९५२।

राम में भी हैं परन्तु तुलसी के राम इन गुणों के अतिरिक्त सच्चे अर्थों में स्थित-प्रज्ञ सन्त हैं जो कभी किसी की बुराई सोच ही नहीं सकते और क्रोध जिनके स्वभाव का सहज अंग नहीं है। विशुद्ध नैतिकता की दृष्टि से राम से उच्चतर व्यक्तित्व की कल्पना कठिन है।[1]

राम के अतिरिक्त सीता, भरत, एवं हनुमान आदि पात्र भी अपने क्षेत्र में उदात्त गुणों को चरितार्थ करने वाले पात्र हैं।

कला पक्ष की दृष्टि से भी तुलसी का स्थान अद्वितीय है। उनकी भाषा वक्ता, वक्तव्य एवं श्रोता के अनुरूप होती है। उदाहरण के लिए निषाद की भाषा जितनी ही सरल और सहज है वशिष्ठ की भाषा उतनी ही वैदग्ध्य-मण्डित और परिष्कृत। अपने समय की सभी काव्य-पद्धतियों में तुलसी को अपूर्व सफलता मिली है। जैसे संस्कृत में कालिदास उपमा के प्रयोग में अप्रतिम समझे जाते हैं वैसे ही हिन्दी में तुलसीदास, रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रयोग में अतुलनीय समझे जाते हैं।

(ङ) **तुलसी, सूर और कबीर** हिन्दी मध्य युग के ऐसे प्रतिभाशाली कवि हैं, जिनके कारण भक्ति काव्य को हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाव्य कहा जाता है। इस काव्य में जड़ आदर्शों का अनुगमन या अनुकरण नहीं अपितु नूतन आदर्शों की सर्जना है। इसीलिए मोक्ष एवं निर्वाण की अपेक्षा इसमें प्रेम एवं उदारता की महिमा का ख्यापन है। शताब्दियों से यह काव्य विद्वानों एवं साधारण जनता को समान रूपेण आकर्षित करता आया है।

इस काव्य के चिन्तन पक्ष की गरिमा, इसके साधना पक्ष की उज्ज्वलता एवं काव्य पक्ष के औदात्य को हम तब और भी अधिक गहराई से अनुभव करते हैं, जब हम यह जान लेते हैं कि कैसे तब, भक्ति-काव्य के पूर्व की कई शताब्दियों से, चिन्तन-प्रक्रिया टीकाओं पर टीका लिखने में, 'धर्म-साधना गुह्य समाज सेवन में और काव्य-रचना' प्राकृत-जन-गुण गान' एवं थोथे ज्ञान प्रदर्शन में, विलीन हो भ्रष्ट हुई जा रही थी।

---

१ देवराज, भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक में) पृष्ठ २०२-२०३, —सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश—१९६१।

भक्तिकाल के अन्य कवियों में (तुलसी, सूर और कबीर के अतिरिक्त) जायसी, मीरा एवं रसखान का नाम उदात्त भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

रीति-काव्य में घनानन्द ऐसे कवि हैं जिनके स्वच्छन्द प्रेम की निष्कलुषता एवं आवेग प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्य के पीछे युगों की उदात्त-चित्रण की परम्परा है, जीवित जाति एवं जीवन्त साहित्य के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

३

छायावादकालीन कविता में उदात्त-भावना

सम्पूर्ण हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में जब हम आधुनिक हिन्दी कविता के प्रथम चरण या छायावाद काल की रचनाओं पर विचार करते हैं 'तब प्रथम प्रतिक्रिया एक अनुपम हर्षोद्रेक की होती है।'[1] इस काल के काव्य में नई मूल्य दृष्टि, नई विषय-वस्तु, नवीन सौन्दर्य चेतना, नवीन भाव-राशि, नई भाषा, नए-नए छन्द-अलंकार तथा नए-नए बिम्ब और प्रतीक अपनी अपूर्वता में अभिभूत करने वाले हैं। इस काव्य की "समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्तिकाव्य ही कर सकता है।"[2] जैसे भक्ति काव्य में अगणित कवियों के रहते भी चार-पाँच नाम ही ऊपर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी-काव्य में भी उदात्त की दृष्टि से थोड़े से कवि ही विवेच्य हैं। अधिकांश लेखक प्रवाह का अंग होते हैं और बाढ़ समाप्त होते ही विलीन हो जाते हैं, या आगामी धान्य के लिए खाद का काम देते हैं।' बहुत बार उनकी महत्ता 'जुलूस में शामिल भीड़' की-सी होती है।

आनन्दवर्द्धन ने एक अन्य सन्दर्भ में इसी बात को इस रूप में स्वीकार किया है—

अस्मिन्नति विचित्र कवि-परम्परा वाहिनि संसारे।
द्वित्राः पंचषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥[3]

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १०, इलाहाबाद, वि० २००७।

२ अग्रवाल, भारतभूषण (संपा०) डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृष्ठ १०१,
—दिल्ली—१९६२

३ ध्वन्यालोक, ११६ वृत्ति डॉ० नामवरसिंह कृत "कविता के नए प्रतिमान—पृष्ठ ५२
—दिल्ली—१९६८।

अर्थात् इस अति विचित्र कवि-परम्परा वाही संसार में कालिदास प्रभृति दो-तीन या पांच छः महाकवि गिने जा सकते हैं । अस्तु ।

इस काल के विवेच्य कवियों में प्रसिद्धि एवं प्रवृत्ति आदि की दृष्टि से सर्वप्रथम श्री मैथिलीशरण गुप्त का ध्यान आता है । यद्यपि वह बहुत सीमा तक द्विवेदी युगीन आदर्शों और प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु उनकी विख्यात एवं प्रतिनिधि रचना छायावाद काल की देन है ।

मैथिलीशरण गुप्त

१. महत्ता—गुप्त जी का काव्य परिमाण में वृहत् और रूप में विविध है । उनके प्रतिपाद्य का प्रधान स्रोत रामायण महाभारत है, यद्यपि बौद्ध, राजपूत, सिख एवं मुस्लिम इतिहास से भी इन्होंने कथानक लिए हैं । इसके पीछे उन पर पड़ने वाली अपने समय की राजनैतिक चेतना सामाजिक सुधारवादिता एवं धार्मिक उदारता का प्रभाव है । गुप्त जी के संस्कार परमतत्त्व-केन्द्रित-चिन्तन से निर्मित है, उनकी दृष्टि नैतिक-आदर्शात्मक मूल्यों से प्रेरित है और उनके काव्य का लक्ष्य उपेक्षित पौराणिक पात्रों—विशेषतः नारियों को वाणी देना, तथा प्रतिष्ठित पात्रों को नव संस्कार मण्डित करना और आधुनिक रूप देना है । इसमें तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक समस्याएं भी प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः आ गई है । इस प्रकार उनके प्रतिपाद्य का रूप नया है, परन्तु स्वरूप अधिक सीमा तक पुराना है । उसमें कुछ हद तक मध्यकालीन रूढ़ियों का परित्याग तथा कथ्य के मानवीय पक्ष का परिष्कार है, परन्तु यह भी अधिकतर बाह्यार्थ-निरूपण तक सीमित है, इसीलिए वर्णाश्रम व्यवस्था आदि का गुप्त-काव्य में पूर्ण सम्मान है । गुप्त जी का आग्रह निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति में और संन्यास की अपेक्षा 'गेह-गौरव' में है । उन्होंने सामान्यतः ऐसे कथानकों को चुना है, जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुके हो और उनमें उतनी नवीनता भर दी है, जो लोक-हृदय को स्वीकार्य हो । अतएव उनका 'गेह' मध्यवर्ग का संयुक्त परिवार है, और 'गौरव' उस परिवार की सद्‌गृहिणी नारी है । फलस्वरूप उन्हें अपने जीवन काल में ही इतनी ख्याति मिली है, जितनी यदाकदा ही किसी कवि को मिल सकती है । उन्हें 'युग कवि' और 'राष्ट्र कवि' कहा गया है, उनकी प्रशस्ति में वृहदाकार ग्रन्थ लिखे गए हैं । परन्तु उनका 'युग कवित्व' अग्रगामी या युग निर्माता का नहीं, अनुगामी का है । उनका 'राष्ट्र कवित्व' भी नव-जागरण का उद्‌घोष करने वाले युग प्रवर्तक का नहीं अपितु जागे हुए, जाग रहे

राष्ट्र के वैतालिक का है। अतएव उन्हें अधिक से अधिक 'जनकवि' कहना ही युक्ति संगत है। उनकी ख्याति का कारण उनके कवित्व से भी बढ़कर उनके व्यक्तित्व की शालीनता और हृदय की उदारता रही है।

१. **विवेच्य कृति साकेत**—गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ या प्रतिनिधि रचना 'साकेत' है। इसके आधार पर गुप्त काव्य की उपलब्धियों और सीमाओं का मूल्यांकन हो सकता है, और उनके काव्य की उदात्त भावना से अवगत हुआ जा सकता है।

२. **चिन्तन केन्द्र**—गुप्त जी आस्थावान वैष्णव भक्त हैं। कवि रूप में 'समक्ष' या 'व्यक्त' की उपासना करते समय उनकी दृष्टि नारायण के नरत्व पर ही केन्द्रित है। भगवान का भी राम रूप ही इन्हें अधिक प्रिय है,[1] यद्यपि ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, और नानक सभी को इन्होंने श्रद्धा के सुमन समर्पित किए हैं। 'साकेत' की रचना यद्यपि, काव्य की उपेक्षिता उर्मिला को उचित गौरव देने के लिए की गई है, फिर भी साकेत में राम के वृत्त का आख्यान, अधिक नहीं तो समान महत्त्व का अवश्य है। पुस्तक के नामकरण में भी इस बात की सावधानी बरती गई है कि राम का स्थान गौण न हो। गुप्त जी के लिए राम 'ईश्वर' हैं। अपने युग की तर्क-प्रवणता एवं मानव-केन्द्रित-चिन्तन की स्थापनाओं से गुप्त जी परिचित हैं, इसीलिए साकेत के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही विस्मित हो पूछ बैठते हैं—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?

परन्तु उन्हें अपने आराध्य के ईश्वरत्व पर इतना विश्वास, आस्था और प्रेम है कि प्रश्न के साथ ही निश्चित शब्दों में कह उठते हैं—

तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥

उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा गुप्त जी के चिन्तन में आधुनिकता एवं पारम्परीणता की मात्रा एकसाथ दृष्टिगोचर हो जाती है। गुप्त जी के राम ईश्वर होते हुए भी इतने मानव हैं कि श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इनमें ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव के उत्कर्ष को या मानव की ईश्वरता को निरूपित

---

1 धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥
—द्वापर (मंगलाचरण), चिरगाँव (झांसी)।

देखते हैं ।[1] गुप्त जी ने कहीं भी राम के चरित्र को तुलसी की भाँति अलौकिक गुणों से सम्पन्न नहीं किया है, फिर भी एक जगह 'गीता' के कृष्ण की तरह 'साकेत' के राम से अपने अवतार धारण के प्रयोजन का वर्णन करवाए बिना नहीं रह सके—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया ।
....
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया
....
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया
....
उच्चारित होती रहे वेद की वाणी
गूंजे गिरि-कानन-सिन्धु पार कल्याणी ।।[2]

इन पंक्तियों में प्राचीन (पौराणिक) संस्कारों का अवशेष भी है और पुनरुत्थान काल की (दयानन्दीय) विचारधारा को भी अभिव्यक्ति मिली है । काव्य की दृष्टि से ये पंक्तियाँ एकदम सपाट हैं, परन्तु 'भूतल को स्वर्ग बनाने' के राम के अवतार धारण के प्रयोजन में उदात्तोन्मुखता, निस्सन्देह है ।

३. उर्मिला—राम के इस युगानुरूप चरित्र के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख पात्र उर्मिला है । वास्तव में स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व के आदर्श का उद्घोष करने वाले इस युग में काव्य की उपेक्षिता नारी·······उर्मिला······· को वाणी देना ही साकेत का मुख्य उद्देश्य है । इसीलिए उसने विख्यात राम-कथा को इस तरह साकेत में केन्द्रित किया है कि अधिक देर उर्मिला ही पाठक के सामने रहे । साकेत के प्रथम सर्ग में वह हास-परिहास, विनोद-वार्ता में निमग्न पतिप्राणा युवती के रूप में चित्रित है । तदनन्तर परिस्थितियाँ उसे चौदह वर्ष के विषम-विरह में निमग्न कर देती है और विरहावस्था में कभी तो वह उदार हृदया प्रबुद्ध नारी के रूप में दिखाई जाती है, कभी असहाय मुग्धा के रूप में और कभी रीतिकालीन विरहिणी की तरह सांस से आकाश में फफोले उठाती हुई चित्रित की गई है । फलस्वरूप उसका चरित्र अस्पष्ट रेखाओं तथा असम रंगों में उभरता प्रतीत होता है ।

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४३, इलाहाबाद, सं० २००७ ।

२ गुप्त मैथिलीशरण, साकेत, पृष्ठ २३४–३५, चिरगांव (झांसी) सं० २०१४ ।

साकेत के द्वादश सर्ग में तो तव विषम रंग भी उभर आता है, जब अकस्मात् उसे शस्त्र-सज्जिता भवानी बना दिया गया है और उससे सैनिकों को 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश दिलवाया गया है । इसके तुरन्त वाद शत्रुघ्न के नेतृत्व में वीरों द्वारा समझाए जाने पर वह शस्त्र उठाने की अपेक्षा "अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं, पानी दूँगी तुम्हें, न पल भर सोऊँगी मैं"[1] की प्रतिज्ञा करती है । (इस तरह एक साथ ही वह मुग्धा, रीतिकालीन विरहिणी, 'झांसी की रानी' और 'फ्लोरेंस नाइटिंगल' बना दी गई है ।) अभिप्राय यह है कि गुप्त जी ने उर्मिला में विरहिणी होने के अतिरिक्त उन सब गुणों को एक साथ भर देने का प्रयास किया है जिन्हें वे आधुनिक नारी के लिये अनुकरणीय आदर्श समझते हैं । परिणामस्वरूप, उर्मिला के सन्दर्भ में नारी के गुणों का कथन तो हुआ है, परन्तु उसका व्यक्तित्व बिखर गया है । ये गुण उसके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं लगते । आलोचकों ने प्राचीन काव्य शास्त्र की दृष्टि से भी उर्मिला को उदात्त-चरित्र कहने मे संकोच किया है ।[2]

४. कैकेयी—चरित्र को नवीन संस्कार देने की दृष्टि से गुप्त जी को कदाचित् सर्वाधिक सफलता कैकेयी के चित्रण में मिली है । रामचरित मानस में वह 'कुटिल रानी' बन कर रह गई थी । परन्तु साकेत में उसका स्वरूप ऐसे मानवीय धरातल पर निर्मित हुआ है कि हम उसकी स्थिति पर पूर्णतः एवं अनायास द्रवित हो उठते हैं । वात्सल्य जैसी उदात्त वृत्ति भी जब स्वकेन्द्रित या स्वार्थ केन्द्रित हो मोह में परिणत हो जाती है, तो कितनी क्षुद्र हो सकती है, कैकेयी द्वारा याचित वरदान इसका निदर्शन है । 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह ।'[3] इन दो पंक्तियों में व्याप्त संशय का विष कैकेयी के मन में इस तरह फैलता जाता है कि उसका वात्सल्य 'सकीर्ण ममत्व, 'आहत अहंकार' एवं 'प्रतिहिंसा' में परिणत हो जाता है । परन्तु पति की मृत्यु के अतिरिक्त जब उसे अपने वात्सल्य-भाजन भरत से भी विरक्ति एवं तिरस्कार मिलते हैं तो वह आत्म ग्लानि एवं अनुताप के मौन में डूब जाती है । चित्रकूट की सभा में अवसर मिलते ही उसका हृदय पूरे आवेग से उमड़ पडता है और उसका प्रकृत रूप उभर आता है । पाठक का सारा परिताप एव क्षोभ आँसुओं के साथ ही धुल जाता है । वर माँगने में भरत की किसी भी

---

१ गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, (द्वादश सर्ग), पृष्ठ ४७६, चिरगाँव (झाँसी) वि० २०१४ ।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४९, इलाहाबाद, सं० २००७ ।

३ गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, पृष्ठ ४९, चिरगाँव (झाँसी) सं० २००८ ।

प्रकार की दुरभि-सन्धि की संभावना का निराकरण करती हुई जब कैकेयी पूरे आवेश से यह हृदय द्रावक शपथ खाती है—

> यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊं
>
> तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊं ।।[१]

तब उसका मातृत्व अपने उत्कृष्ट रूप में उभर कर सामने आता है। वह मन्थरा दासी को भी दोष नहीं देती क्योंकि वह अपने मन के अविश्वास को निरपेक्ष्य होकर देख चुकी है। कैकेयी के आत्म-तिरस्कार में भी एक दीप्ति है, जो दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में भी उसके चरित्र की असाधारणता को द्योतित करती है। आत्मग्लानि एवं अनुताप के माध्यम से कैकेयी के चरित्र का सत्पक्ष उसके कलंक को इस सीमा तक धो देता है कि वह हमारी ही तरह की सामान्य मानवी सिद्ध होती है।

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त साकेत में अन्य पात्र भी हैं जिसमें भरत, लक्ष्मण एवं माण्डवी आदि का नाम लिया जा सकता है। परन्तु उदात्त की दृष्टि से ये नगण्य हैं। उदाहरण के लिए भरत सौम्य हैं, तपस्वी हैं, भावुक हैं, सज्जन हैं, परन्तु कोई भी (सत्) गुण जबतक अपनी अतिक्रामिता में अभिभूत करने की क्षमता न रखता हो तबतक उदात्त नहीं कहला सकता। सज्जनता उदात्त का पर्याय नहीं है।

साकेत के विभिन्न पात्रों में से कुछ में अधिक से अधिक कुछ उदात्तोन्मुखता कही जा सकती है, अतिक्रामिता या औदात्य नहीं है।

५. **भाव-योजना**—साकेत में यद्यपि विविध भावों एवं रसों के उदाहरण ढूंढे गए है, परन्तु प्रेम एवं करुणा ही मुख्यतः गुप्त-काव्य के व्यापक भाव हैं।[२] साकेत के भाव-चित्रण में भी बाह्यार्थ-निरूपण एवं वर्णनात्मकता का प्राधान्य है। उदाहरणस्वरूप उर्मिला-विरह प्रसंग को लिया जा सकता है। उसमें विविध दशाओं का उल्लेख हुआ है जिनमें अभिलाषा, चिन्ता, उत्कण्ठा, स्मृति, उद्वेग, उन्माद एवं मूर्च्छा आदि भी हैं। अनेकों पुरानी रूढ़ियों का पालन किया गया है, जिनमें 'आहों से आकाश में फफोले पड़ना,' तालवृक्ष की हवा से हृदयाग्नि का भड़कना' और 'मलयानिल का विरहतप्त शरीर के स्पर्श से लू में परिणत होना' आदि भी हैं। साथ ही कतिपय नवीन उद्भावनाओं का भी प्रयोग है। फिर भी विरह वर्णन में बहुत कम पंक्तियां ऐसी

---

१ गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, पृष्ठ २४८, चिरगांव (झांसी) सम्वत् २००८।

२ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ ६७, दिल्ली—१९६६।

है जिन्हें आकर्षक कहा जा सके या जो मार्मिक हों, द्रवित करती हों। अपनी अपूर्वता में अभिभूत करने वाली या उत्कर्षक तो कदाचित् कोई पंक्ति भी नहीं है। साकेतकार स्वयं नवम् सर्ग के 'अबूरा'[1] लगने के पीछे शायद यही मनोवैज्ञानिक कारण देखा जा सकता है। इसका एक कारण यह भी है कि गुप्त जी वस्तुतः विरह के कवि न होकर मिलन के कवि हैं। इसीलिए नवम् सर्ग में स्मृति संचारी भाव के रूप में दिए हुए मिलन-चित्र किंचित् भी विरहोद्दीपक नहीं हैं।

साकेत में दो-एक स्थल ऐसे हैं जो भावदृष्टि से अन्य स्थलों की वर्णनात्मकता से कुछ ऊँचे उठ सके हैं। इनमें चित्रकूट की सभा का वह अंश भी है, जिसमें भरत की आत्मग्लानि एवं कैकेयी का अनुताप चित्रित किया गया है। अन्य अंश राम-कथा की गरिमा के कारण ही यत्किंचित् आकर्षक हैं।

६. प्रकृति चित्रण—प्रकृति चित्रण की दृष्टि से साकेत में परम्परा का निर्वाह ही अधिक है। वन, पर्वत, नदियाँ, प्रातः, सन्ध्या, रात्रि, पेड़ ऋतु वर्णन आदि प्रकृति के विविध रूप साकेत में वर्णित हैं। चकोर, कपोत मधुमक्खी, शुक, मारिका एवं मकड़ी आदि जीवों का भी विवरण है। परन्तु प्रकृति चित्रण में विस्तार ही विस्तार है, वस्तु-वर्णन है। विस्मयविमूढ़ करने वाली गहराई, ऊँचाई या सात्विकता का यहाँ पर भी अभाव है। कहा जा सकता है कि 'गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं।[2]

७. शिल्प—शिल्प की दृष्टि से भी साकेत प्रौढ़ कृति नहीं है। इसका महत्त्व नवयुग की आरम्भिक-भावनाओं को नई भाषा देने के महत्प्रयास में है। 'नवीन काव्य भाषा का निर्माण और प्रयोग करने वाले कवि से सर्वथा साधु प्रौढ़ और प्रांजलपद-रचना की अपेक्षा करना ही अनुचित होगा।[3] प्रबन्ध रचना की दृष्टि से भी साकेत में अन्विति नहीं है। इसका कारण राम एवं उर्मिला को समान महत्त्व देने का कवि का आग्रह है। इसकी सिद्धि के लिए सम्पूर्ण कथा साकेत में केन्द्रित की गई है। परन्तु इसका परिणाम सन्तोषप्रद नहीं है। प्रथम आठ सर्गों में राम-वृत्त का प्राधान्य है, नवम् सर्ग में उर्मिला ही उर्मिला है, उसके विरह का विस्तार (फैलाव) है। 'रंग-विरंगे छन्दों की

---

१ गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, पृष्ठ ३।

२ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ ६६, दिल्ली—१९६६।

३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५३, इलाहाबाद, २००७।

प्रदर्शिनी है।[1] तदन्तर तीन सर्गों में उर्मिला-केन्द्रित राम-कथा है—उर्मिला की शैशव-स्मृतियां हैं, साकेत के राज-परिवार का चित्र है, राम-रावण युद्ध है और उर्मिला-लक्ष्मण मिलन है। इस तरह कथा तीन खण्डों में विखर जाती है। आठ सर्गों तक सहज विकास है। नवम् सर्ग का कथा से सम्बन्ध ही टूट जाता है। अन्तिम सर्गों में कथा को जल्दी-जल्दी समेटने का प्रयास है। उर्मिला की शैशव स्मृतियां प्रवन्ध से सीधा सम्बन्ध नहीं रखतीं। कुछ स्थानों पर नाटकीय ढंग के उत्तर-प्रत्युत्तरों ने साकेत को चमत्कार-शून्य होने और नितान्त इतिवृत्तात्मक स्तर पर उतरने से बचाया है।[2]

८. **निष्कर्ष**—इस प्रकार चिन्तन की ऊँचाई, भावों की गहराई (सूक्ष्म विवृत्तियां), पात्र योजना या कल्पना की उन्मुक्तता—किसी भी दृष्टि से साकेत (या गुप्त जी का श्रेष्ठतम कृतित्व) लोकातिक्रामी या लोकातिशायी नहीं कहा जा सकता। वह हर तरह उत्कृष्ट काव्य से छोटा पड़ जाता है। परन्तु खड़ी बोली को काव्य भापा बनाने, चरित्रों को युगानुरूप संस्कार देने और द्विवेदी युगीन आदर्शों के श्रेष्ठतम प्रवक्ता होने के कारण गुप्त-काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। साकेत की लोकप्रियता का कारण काव्य-वैभव की अपेक्षा राम कथा की गरिमा ही अधिक है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मात्र 'विपयोत्कृष्टता' काव्य की उत्कृष्टता का प्रमाण नहीं होती।[3]

गुप्त काव्य की महत्ता इस वात में भी है कि इस काव्य ने संस्कार सम्पन्न पाठक वर्ग के निर्माण मे सहायता की। गुप्त जी की रचनाओं से अनेकों परवर्ती कवि भी प्रभावित हुए, चाहे उन्होंने बाद में अपना अलग मार्ग ढूंढ लिया हो।

जयशंकर प्रसाद

१. **महत्ता**—एक नवीन काव्य-धारा के प्रवर्तक और उसकी उच्चतम कृति के रचयिता होने का श्रेय प्राप्त करना एक असाधारण संयोग है। जयशंकर प्रसाद को यह श्रेय प्राप्त है। सूक्ष्म एवं समृद्ध सम्वेदना तथा प्रखर चिन्तन-क्षमता ने प्रसाद की रचनाओं को कतिपय गम्भीर शिल्प दोषों के

---

१ मदान, इन्द्रनाथ, आधुनिक कविता का मूल्यांकन, जालन्धर—१९६२।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५०, —इलाहावाद २००७।

३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १८ (संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण), इलाहाबाद,—१९६६।

रहते भी, अपूर्व माधुर्य एवं दीप्ति से मण्डित कर दिया है। प्रसाद ने जीवन की विभीषिकाओं और विषमताओं को समीप से देखा एवं झेला था। इनके मूल-कारण को समझने और समस्या का सुलझाव ढूंढने के लिए उन्होंने मनुष्य को एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा और इस प्रक्रिया में सुदूर अतीत का अवगाहन किया। अतएव अतीतप्रेम प्रसाद के साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

२. **अतीत प्रेम का उदात्त-पक्ष**—अतीत के अवगाहन का उदात्त एवं धनपक्ष यह है कि वह हमारे भावों को विवेकानुमोदित अभ्यास एवं सुदृढ़ आधार देता है। फलस्वरूप वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में हमारी प्रतिक्रिया संयत तथा हमारी वृत्तियों·······राग द्वेषों·······का प्रसार अपेक्षाकृत संतुलित हो जाता है। अतीत-मोह का अनुदात्त एवं ऋण पक्ष यह है कि इससे व्यक्ति की दृष्टि कुण्ठित, भावनायें जड़ तथा प्रतिक्रिया रूढ़ एवं यांत्रिक हो जाती हैं। फलस्वरूप व्यक्ति पिछड़ जाता है और नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी प्रतिक्रिया क्षोभ एवं उपहास का कारण बन जाती हैं। प्रतिभाशाली कलाकार में अतीत का धनपक्ष अभिव्यक्ति पाता है। प्रसाद-साहित्य में भी वही अधिक अभिव्यक्त हुआ है।

पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष कर रहे भारतीय जनमानस को प्रसाद ने एक ओर भारतीय इतिहास के गरिमामय रूप से परिचित करवा कर आत्मगौरव की प्रेरणा दी, दूसरी ओर मानव की प्रकृति, नियति एवं परिणति की खोज में प्रेम, साहस, त्याग, करुणा, उदारता, वीरता, आदि प्रवृत्ति-मूलक भावों के उदात्त पक्ष पर बल दिया। इनके काव्य में टीस, वेदना, निराशा, आँसू, आदि भी पर्याप्त मात्रा में हैं, परन्तु इन सब की परिणति सर्वग्राही आनन्द में करने का प्रयास किया गया है। मानव जीवन को प्रसाद ने एक विशाल एवं अर्थपूर्ण परिप्रेक्ष्य मे देखा है, अतः इनके कथानकों का आधार-क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक यन्त्र-युग तक विस्तृत है। इनमें वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, मौर्य, शुंग, गुप्त एवं राजपूत काल भी समाविष्ट हैं। इस विशाल और गम्भीर अध्ययन में न तो संकीर्णता है और न ही सतही समन्वय-मूक्तियां। एक ओर इन्होंने इतिहासकार की भाँति अतीत की कुहराच्छन्न सामग्री को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है, दूसरी ओर प्रेम और कर्त्तव्य, क्षमा और प्रतिशोध एवं विजय-पराजय आदि के माध्यम से, मानव को व्याख्यायित करने का और भारतीय संस्कृति के उदात्त पक्ष को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इनका यह सारा प्रयास मानव-केन्द्रित

है, मनुष्य के उद्धार और उन्नयन के लिए है[1]। इस प्रयास के सारे परिणामों से सहमत होना चाहे सम्भव न हो, परन्तु इसकी महत्ता निर्विवाद है।

३. **विवेच्य कृति–कामायनी**—साहित्य के विभिन्न रूपों-नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि—के क्षेत्र में प्रसाद का महत्वपूर्ण एवं अन्यतम योगदान है, परन्तु इनका विशिष्टतम क्षेत्र कविता है। कविता के क्षेत्र में **'कामायनी'** प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति या राजरचना है। इतना ही नहीं, अपितु डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में यह आधुनिक हिन्दी काव्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सब से महान् उपलब्धि है।'[2] अतः सहज ही प्रसाद काव्य की औदात्य सम्बन्धी उपलब्धियों एवं सीमाओं का मूल्यांकन कामायनी के आधार पर ही हो सकता है।

यद्यपि प्रसाद साहित्य में एक साथ मुक्त-प्रेम एवं आदर्शवादिता, स्वच्छन्द कल्पना एवं आभिजात्य संयम, भावों की ऊष्मा एवं सूक्ष्म अतीन्द्रिय रूपचित्रण, वैदिक आर्यों की दीप्ति एवं बौद्ध करुणा तथा प्रकृति के अनेकों कोमल एवं विराट् चित्र उपलब्ध होते है, फिर भी प्रमुख स्वर चिंतक या मनीषी का है। उनकी राजरचना कामायनी के सन्दर्भ में भी यही सत्य है।

४. **समस्या और समाधान**—मानव जीवन की विषमताओं और आज के युग की विभीषिकाओं पर गम्भीरता से विचार करते हुए कवि इस परिणाम पर पहुँचता है कि जीवन और जगत दोनों मूलतः सत्य है, सुन्दर हैं, एवं मंगलमय हैं,[3] परन्तु जीवन का एकांगी विकास ही विषताओं एवं विभीषिका आदि का मूल कारण है। भाव, व्यापार और विचार, अथवा इच्छा, कर्म और ज्ञान में विषमता ही जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। इनमें समन्वय, सामंजस्य और सामरस्य उस आनन्द की भूमिका हो सकता है। जो कवि की दृष्टि में जीवन का प्राप्य है। इसी चिन्तन-प्रक्रिया की भावमयी अभिव्यक्ति का प्रतिफलन कामायनी में हुआ है। इस तरह जीवन की विषमता प्रसाद के अनुसार व्यक्ति के अन्तस् की समस्या है। आनुषंगिक रूप से कामायनी में नर और नारी की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों का चित्रण है; भोग और त्याग की सीमाओं

---

१ द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, की भूमिका, पृष्ठ १४८; बम्बई—१९४८।

२ नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृष्ठ ५३८, दिल्ली—१९६८।

३ (क) चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्व, सतत चिर सुन्दर ॥ (का० आनन्द सर्ग, पृष्ठ २३०)

(ख) जीवन धारा सुन्दर प्रवाह
सत, सतत प्रकाश, सुखद अथाह ॥ (का० आनन्द सर्ग, पृष्ठ १९३)

का निरूपण है, सुख और दुःख (द्वन्द्व) के परिहार का प्रयास है तथा व्यक्ति एवं समाज की एकोन्मुखता का भी प्रतिपादन है। इन सभी समस्याओं का मुलभाव सामरस्य में बताया गया है और सभी की परिणति आनन्द में की गई है।

कामायनीकार ने अपने इस कथ्य के प्रतिपादन के लिए शैव दर्शन के आनन्दवाद को आधार बनाया है और आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु को नायक के रूप में चुना है।[1] कवि के अनुसार यह काव्य 'मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास' एवं मानवता के विकास का भावमय रूपक' बन सकने में समर्थ हो सकता है।[2] स्पष्ट है कि कवि स्वयं इस कृति के महाउद्देश्य के प्रति सचेत है। अतः प्रथम कवि की दृष्टि से ही कामायनी पर विचार अधिक उपयुक्त है।

५. कामायनी कवि की दृष्टि से—कामायनी का प्रारम्भ 'चिन्ता' सर्ग से हुआ है, यह बहुत ही उपयुक्त है। क्योंकि मनुष्य का विच्छेदक गुण उसकी परिकल्पनाशीलता, चिन्तन-क्षमता या वह जिज्ञासावृत्ति है जो उच्च स्तर पर उससे उसके अपने जीवन के अर्थ की माँग और प्राप्य की पहचान का आग्रह करती है। स्थिति भेद से यही गुण 'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा या चिन्ता'[3] आदि अनेक नामों से अभिहित होता है। महाप्रलय के सर्वग्रासी रूप का साक्षी मनु संत्रस्त हो अपनी इस चिन्तन क्षमता (या 'चिन्ता') को ही दुत्कारना चाहता है। परन्तु जीवन के अपने नियम हैं। भयंकर से भयंकर, कालरात्रि का भी प्रातः होता है। सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी-सी उषा उदित होती है। 'आशा' का सचार होता है। 'श्रद्धा' और 'काम' सर्ग मनुष्य जीवन की प्रवृत्तिमूलकता को इंगित करते हैं। वासना सर्ग में पुरुष द्वारा प्रकृत प्रेमवृत्ति के उदय की ऊष्मा का भावोच्छ्वास-भरा निवेदन है। तदनन्तर नारी में तज्जनित 'लज्जा' एवं सौन्दर्य—चेतना का मोहक चित्रण है। 'वासना' सर्ग से ही मनु 'दृप्त-ईर्ष्या' और निर्बाध-भोगवृत्ति का शिकार होने लगते हैं। श्रद्धा को पशु के साथ स्नेह भरी क्रीडा करते देख वह जल उठते हैं, फलस्वरूप अतृप्ति, असन्तोष, हिंसा ('कर्म' सर्ग) और कटुता के अन्धकार में धँसते जाते हैं। 'ईर्ष्या' का निकृष्टतम रूप

१ इससे 'विद्वान' आलोचकों का बड़ा उपकार हुआ है। उन्हें कामायनी-विवेचन के नाम पर शैवदर्शन पर पोथे लिखने और कथानक के आधार की खोज के बहाने वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों का ज्ञान प्रदर्शित कर सन्तुष्ट हो बठने का अवसर मिला है।

२ कामायनी, (आमुख), पृष्ठ ४ इलाहाबाद, सं० २०००।

३ कामायनी, (चिन्ता सर्ग) पृष्ठ १२, इलाहाबाद, सं २०००।

वहाँ प्रकट होता है, जहाँ अपनी भावी सन्तान के साथ भी, वह ('अपनी भोग्या') श्रद्धा के 'प्रेम' बाँटने को सहन नहीं कर सकते। श्रद्धा के कातर वचनों को अनसुना करते हुए वे ज्वलनशील अन्तर लेकर घर छोड़ जाते हैं। तदनन्तर 'इड़ा' (या बुद्धि-बल) के साहचर्य से वह सारस्वत प्रदेश में भौतिक सुख:सुविधाएं इकट्ठी करने में तो समर्थ होते हैं, परन्तु उनकी वही 'नियंत्रित अधिकार भोग" की लालसा उन्हें 'संघर्ष' में डाल देती है और वे मुमूर्ष हो गिर पड़ते हैं। (विद्वानों के अनुसार 'बुद्धि' के अतिवाद से मानवता आज इसी विषम-स्थिति में है।) इसका अनिवार्य परिणाम 'निर्वेद' है। यहाँ से कथा-विकास 'मनोभूमि' से हटकर 'चेतना-क्षेत्र' में घटित होने लगता है। बुद्धि से भी ऊँची मातृमूर्ति श्रद्धा के पथ-प्रदर्शन में मनु को वास्तविक तत्त्व के "दर्शन" होते है और वे जीवन की विषमता के "रहस्य" को समझ लेते हैं। उसी समय श्रद्धा की ज्योतिर्मयी स्मिति के अनुग्रह से वे त्रितापों से मुक्त हो सामरस्य की आनन्दमयी स्थिति में पहुँच जाते हैं। मनु को अपना प्राप्य यहीं मिल गया है, परन्तु प्रसाद सम्पूर्ण सारस्वत-प्रदेश वासियों को 'आनन्द' की दिव्य भूमि में आत्मसाक्षात्कार[1] का अवसर देना चाहते हैं। 'आनन्द' सर्ग इसी दृष्टि से जोड़ा गया है।

६. 'मनुष्यता के विकास रूप, में[2]—कामायनी का कथानक यह ध्वनित करता है कि आरम्भिक युग में मनु (मनुष्य) को श्रद्धा (धर्म) ने विकास में सहायता दी। पर अहंकार एवं स्वार्थ भावना के कारण वह श्रद्धा का परित्याग कर इड़ा के क्षेत्र में चला आया। तदनन्तर इड़ा (बुद्धि) के साहचर्य से भौतिकता के विविध क्षेत्रों में तो समृद्ध हुआ, परन्तु उसकी ईर्ष्या, स्वार्थ, अहकार आदि क्षुद्र प्रवृत्तियाँ और भी प्रखर होती गईं। परिणामस्वरूप चारों ओर घृणा, अशान्ति, परिग्रह, युद्ध एवं विषमता का साम्राज्य है। बुद्धि पर अतिचार एवं कर्म (भौतिकता) पर अत्यधिक आग्रह मनु (मनुष्य) को मुमूर्षु बनाए जा रहे है।[3] प्रसाद जी के अनुसार आगे का विकास जीवन के तीनों

---

१ सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से ॥ —कामायनी आनन्द सर्ग
—पृष्ठ २३५, इलाहाबाद २०००।

२ कामायनी (आमुख), पृष्ठ ४। इलाहाबाद, २०००।

३ 'इड़ा' सर्ग के काम-शाप में एवं 'स्वप्न' तथा संघर्ष' सर्गों के रूप में युगजीवन का ही प्रकारान्तर से चित्रण है।

पक्षों—इच्छा, क्रिया और ज्ञान अथवा भावना, कर्म और चिन्तन में सामंजस्य से समरसता एवं आनन्द की उपलब्धि की ओर है। दूसरे शब्दों में मनुष्यता का विकास वर्ग से बुद्धिवाद (विज्ञान) एवं बुद्धिवाद से अध्यात्म की ओर जाने में है।

७. चिन्तन पक्ष और औदात्य—प्रसाद ने जिस सामरस्य एवं आनन्द की प्रतिष्ठा में व्यक्ति एवं युग की सब समस्याओं का सुलझाव ढूंढा है, उस पर शैव दर्शन का प्रबल प्रभाव है। प्रातिभ व्यक्ति जब गहराई में अपने युग की चिन्ताओं, आशंकाओं, समस्याओं एवं आसन्न स्थितियों से जूझता है, तो वह समस्या के मूल कारणों को समझने और उनका सुलझाव ढूंढने के लिए एक ओर अतीत के श्रेष्ठतम अनुभव का प्रयोग करता है, दूसरी ओर भविष्य के उज्ज्वलतम स्वप्नों को आधार बनाता है। इससे अतीत को युग सन्दर्भ में नया अर्थ मिलता है और वर्तमान को भविष्य में अग्रसर होने के लिए नया आदर्श। श्रेष्ठतम की श्रेष्ठता इसी बात में होती है कि वह नए सन्दर्भों में नई-नई अर्थवत्ता को ध्वनित करता रहता है।

प्रसाद ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में एवं विशेषतः कामायनी में भारतीय चिन्तन की दो आधारभूत चिन्ताधाराओं का युगसन्दर्भ में विवेचन किया है : एक आत्मवाद जिसकी पूर्ण प्रतिष्ठा शैव आनन्दवाद में हुई और दूसरे बुद्धिवाद जिसका विकास बौद्धों एवं जैनों के अनात्मवाद में हुआ। इनमें प्रसाद के अनुसार पहला 'दर्शन स्वस्थ प्रसन्न जाति का जीवन दर्शन है और दूसरा पतनोन्मुख हीन वीर्य जाति का।' प्रसाद ने स्वभावतः प्रथम चिन्तन पद्धति को ही अपने प्रतिपाद्य का आधार बनाया है और दूसरी धारणा को अधिकतर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। बौद्ध दर्शन की उदात्त करुणा प्रसाद को प्रिय है, परन्तु इस चिन्तन का क्षणवाद, शून्यवाद एवं दुःखवाद पूर्वपक्ष के रूप में अर्थात् मनु की चिन्ता एवं प्रश्नाकुलता के रूप में चित्रित है। श्रद्धा द्वारा उनका उत्तर एवं प्रत्याख्यान प्रसाद की चिन्तन-पद्धति का प्रतिफलन है। मनु के रूप में कवि के जीवन की वैयक्तिक वेदना एवं अभावात्मक मनःस्थिति को अभिव्यक्ति मिली है और श्रद्धा के रूप में कवि ने अपने जीवन के अभिलषित साध्य का चित्रण किया है। वर्तमान वैज्ञानिक चिन्तन के अनेक सिद्धान्त भी कामायनी में यत्रतत्र प्रतिध्वनित हैं। इनमें विकासवाद का प्रभाव सबसे अधिक है। प्रसाद की अपनी मानव-विकास की परिकल्पना उसीसे प्रेरित लगती है। विकासवाद के अन्तर्गत परिवर्तनवाद, परमाणुवाद एवं शक्तिस्पर्धा-

वाद का प्रभाव भी कामायनी में दृष्टिगोचर होता है।[1] इस तरह कामायनी में प्रतिपादित चिन्तन के आधार एवं लक्ष्य का औदात्य असंदिग्ध है। यह व्यावहारिक या सम्भव है, कि नहीं यह अलग प्रश्न है। परन्तु मानव-केन्द्रित चिन्तन के प्रथम चरण में ऐसा उद्दाम आवेग और उत्साह था कि मनुष्य में उन सब गुणों की स्थिति एवं सम्भावना देखी गई, जो गुण शताब्दियों से ईश्वर में कल्पित किए जाते रहे थे। अतएव कामायनीकार की दृष्टि में सृष्टि 'सत्य, सतत चिर सुन्दर' हो गई है और सभी समस्याओं का सुलभाव 'चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था' में पा लिया गया है। यह दृष्टिकोण युग की देन है और किसी न किसी रूप में न्यूनाधिक मात्रा में उस युग के सभी महान् व्यक्तियों में (कलाकारों एवं चिन्तकों में) पाया जाता है।[2] अस्तु।

चिन्तन की इसी युग दृष्टि के ही फलस्वरूप कामायनी में भक्ति-काव्य के निवृत्ति-पक्ष का निषेध है, रीतिकाव्य की देह-सीमित दृष्टि का प्रत्याख्यान है, और सुधार काव्य की बाह्यार्थ-निरूपिणी इतिवृत्तात्मकता का अतिक्रमण है। इस तरह कामायनी में नवजागरण की दीप्ति से प्रेरित जीवन दृष्टि का प्राधान्य है। परन्तु मात्र चिंतन-मत औदात्य, कृतिरूप में, कामायनी के मूल्यांकन का कदाचित् उपयुक्त आधार नहीं है। कामायनी ही के अनुसार चिन्तन, कर्म एवं भाव के सामरस्य अथवा 'जीवन दृष्टि', 'वस्तु-विन्यास एवं चरित्र,' तथा 'भाव योजना' इन तीनों में अविभाज्य अन्विति एवं संगति के आधार पर कामायनी की सफलता एवं सीमा आंकी जा सकती है।

८. वस्तु-विन्यास और औदात्य—वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कामायनी का प्रथम सर्ग विराट् एवं उज्ज्वल आशा की सूचना देता है। हिमगिरि का उतुंग शिखर चारों ओर सर्वग्रासी प्रलय-प्रवाह एवं गीले नयनों वाला एक पुरुष.......यहाँ से कथा का सूत्र उठाया गया है। स्तब्ध वातावरण में उस तरुण तपस्वी के समान लम्बे दो चार देवदारु के वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। तपस्वी चिन्तित है परन्तु उसका रूप महान् संभावना-गर्भित गरिमा लिए हुए हैं—

> अवयव की दृढ़ मास पेशियां,
> ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार,
> स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
> होता था जिनमें संचार।

---

१ नगेन्द्र आस्था के चरण, पृष्ठ ५६३–७१, दिल्ली—१९६८।

२ उदाहरण के लिए श्री अरविन्द, गांधी जी रवीन्द्रनाथ, इकबाल एवं जवाहरलाल आदि के चिन्तन में इस दृष्टिकोण का न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

चिन्ता-कातर वदन हो रहा
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षा मय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।[1]

इन पंक्तियों में चित्रित व्यक्ति प्रलय से त्रस्त होकर भी नई सभ्यता (मानव-सभ्यता) का आदि पुरुष हो सकने की सारी क्षमताएं लिए हुए है। पाठक महान् समारम्भ की प्रतीक्षा में आश्वस्त और उत्सुक हो उठता है। आदि पुरुष मनु को बीती घटनाएं याद आती हैं। देव-सृष्टि का उन्नत निर्बाध विलास और फलस्वरूप महाविनाशकारी 'प्रालेय हलाहल नीर' की भीषण वर्षा मनु को अभिभूत कर लेती है। कुछ देर के लिए मनु को "मौन ! नाश ! विध्वंस ! अन्धेरा !" ही सत्य लगते हैं। तदनन्तर भयंकर प्रलय की काल रात्रि पराजित होती है, प्रकृति का विवर्ण एवं त्रस्त मुख सुनहले तीर बरसती उषा के आलोक में मुस्करा उठता है। इस तरह काव्य की मूल-कल्पना-अदम्य आशावादिता—संकेतित होती है। यह धारणा तब और भी दृढ़ हो जाती है जब हम मनु पर इसकी प्रतिक्रिया देखते हैं—

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त,
लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शान्त।
पाक यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने.... ॥[2]

इसके पश्चात् वसन्त के अग्रदूत के समान, विरस पतझड़ में नवजीवन का सन्देश लिए श्रद्धा का आगमन होता है, और वह मनु को श्मशान-वैराग्य से निकलने को प्रेरित करती है। इसी सन्दर्भ में 'काम' एवं 'कर्म' की महत्ता से सम्बद्ध वे पंक्तियाँ हैं, जो मध्यकालीन निवृत्ति-परकता, विलासिता एवं द्विवेदी युगीन रस-विमुखता के बाद एक नई स्फूर्ति, स्वस्थ-दृष्टि एवं उदात्तबोध को व्यंजित करती हैं—

(क) काम मंगल से मण्डित-श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर इसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

---

1 कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ १०।
2 " आशा " " ३३।

(ख) तप नहीं केवल जीवन सत्य
(ग) 'शक्तिशाली हो विजयी बनो।'
(घ) शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय ॥[१]

काम सर्ग में भी इसी पक्ष की पुष्टि की गई है। 'वासना' एवं 'लज्जा' सर्ग में प्रेम, सौन्दर्य, 'उल्लास एवं लज्जा आदि भावों का मार्मिक आवेग-भरा चित्रण है। पशु से प्यार करती एवं प्यार पाती श्रद्धा सहज ही मनु को आकर्षित करने लगती है। यहीं से मनु की एकाधिकार भावना एवं ईर्ष्या (अथवा व्यक्तित्व के विकृति अंश) भी उभरने लगते हैं और वस्तु-विन्यास अपकर्ष की ओर खिंचने लगता है। 'कर्म' एव 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु का यह चरित्र दोष और भी प्रचण्ड होता जाता है, और वह श्रद्धा का परित्याग कर चले जाते हैं। थोड़ी देर के लिए इड़ा का उज्ज्वल प्रकाश सूर्यास्त के पूर्व की मनोरम आभा से परिपूर्ण-सा दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही देर में गहन अन्धकार घेरने लगता है।[२] 'स्वप्न', 'संघर्ष' एवं निर्वेद सर्ग इसी के सूचक हैं। इस प्रकार मनु के चरित्र-दोष का अनिवार्य-फल दुःखान्त प्रतीत होता है, और मनु के मुमुर्षु होने में यह घटित भी होता है। यहीं से कथा विच्छिन्न हो जाती है, भिन्न केन्द्र में खेंच ली जाती है, मनोभूमि की अपेक्षा चेतना-क्षेत्र प्रधान हो जाता है। और श्रद्धा के अनुग्रह से मनु 'द्रष्टा' बन कर जीवन की विषमता के रहस्य से अवगत हो आनन्द मग्न हो जाते है।

औदात्य की दृष्टि से कामायनीकार 'कर्म' सर्ग से ही पथ भूल गया है। जिस कर्म की महिमा का, काव्य की दृष्टि से कहीं-कहीं शिथिल परन्तु चिन्तन की दृष्टि से उदात्त-व्याख्यान कवि ने श्रद्धा के मुख से इससे पूर्व करवाया था, वह कर्म कामायनी में उपेक्षित है। चिन्तन के स्तर का उदात्त-कर्म, चित्रण के स्तर पर नगण्य एवं अपकर्षक हो गया है। उदात्त कर्म के स्थान पर कर्म के तामसिक रूप का चित्रण किया गया है, जिसमें ईर्ष्या, स्वार्थ हिंसा एवं निर्बाधित विलास-भावना प्रधान है। देव सृष्टि के उन्मत्त निर्बाध-विलास का परिणाम स्वयं मनु देख चुके हैं, कर्म-मात्र से विरत होना चाहते

१ कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४८, ५०, ५२, ५३।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ६६, इलाहाबाद, २००७।

रहे हैं, परन्तु प्रसाद ने बुद्धि, यान्त्रिकता एवं भौतिकता के अतिवादी रूप का दुष्परिणाम दिखाने की आकांक्षा से मनु को पुनः उसी दोष में ग्रस्त कर दिया है। निर्बाधित विलास से देव सृष्टि ध्वस्त हुई थी और अनियन्त्रित विलासेच्छा एवं बलात्कार के प्रयास से मनु स्वयं मृतप्राय हो जाते हैं। प्रारम्भ में श्रद्धा ने देवध्वंस के अवशेष मनु को कर्म की मंगलमूलता का सन्देश दिया था और अब वही उसे चेतना-क्षेत्र में ले जाती है। परन्तु वस्तु-विन्यास या कथा-विकास जो 'चिन्ता' सर्ग से 'लज्जा' सर्ग तक समभूमि पर सहज भाव से विकसित होता है। 'कर्म' सर्ग से 'निर्वेद' तक तेजी से अपकर्ष की ओर चला जाता है, तदनन्तर कवि उसे सँभालने का प्रयास करता है और उसे बरबस चेतना-क्षेत्र में ले जाता है, परन्तु उत्कर्ष की ओर ऊँचे उठने के प्रयत्न में वह मूल-प्रवाह से विच्छिन्न हो जाता है। काव्य-कथा जिस गम्भीर एवं विराट् आधार फलक पर आरम्भ हुई थी, बुद्धिवाद के अतिचार का निरूपण करने के उपक्रम में कवि उसे उसी स्तर पर विकसित नहीं कर सका। जिस सामरस्य (या सामंजस्य) को कवि सभी समस्याओं का निदान समझता है, वह सामरस्य स्वयं कवि के चित्रण में नहीं आ पाया। इस स्थापना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कवि ने 'त्रिपुर' के रूप में मनु को जिस 'कर्म लोक' के दर्शन करवाए हैं, उसकी 'श्रद्धा सर्ग' के अन्तिम पद्यों में बताए गए कर्म-माहात्म्य से एक प्रतिशत भी संगति नहीं बैठती। कथा-विकास में दूसरा विच्छेद 'आनन्द' सर्ग की योजना में है। 'मनु' जब मनुष्य मात्र के प्रतीक हैं, तो उनके "दिव्य अनाहत पर निनाद में तन्मय"[1] होते ही कथा अपने लक्ष्य या अन्तिम कार्य पर पहुँच जाती है। परन्तु यहाँ कवि, मनु को व्यक्ति का प्रतीक मान लेता है और हिमालय की तलहटी में रहने वाले सारस्वत प्रदेश वासियों को समष्टि का प्रतीक बना कर उन्हें आनन्द मग्न करने के लिए अन्तिम (आनंद) सर्ग की योजना करता है। परन्तु कथा की विच्छिन्नता यहाँ भी खटकती रहती है।

९. चरित्र चित्रण और औदात्य—चरित्र चित्रण की दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कामायनी चरित्र-प्रधान रचना ही नहीं है। इसमें मनोविज्ञान, मानव-विकास एवं दर्शन के सन्दर्भ में मानव-मन एवं मानव-चेतना के चित्रण का प्राधान्य है। इसलिए चरित्र भी वृत्तियों एवं दृष्टियों की इकाइयाँ हैं, वे व्यक्ति कम और प्रतीक अधिक हैं। प्रमुख पात्र तीन हैं :—

---

१ कामायनी, रहस्य सर्ग, पृष्ठ २९२।

मनु, श्रद्धा और इड़ा। एक दृष्टि से कामायनी में एक ही पात्र—मनु—प्रधान पात्र है। श्रद्धा और इड़ा उसी के दो पक्ष है।[१]

मनु को एक ओर मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक इतिहास का प्रतीक बनाया गया है और दूसरी ओर अनगढ़ मानव-चेतना के विकास का। कथा के प्रारम्भ में वह भारतीय इतिहास का आदि पुरुष या वैवस्वत मनु है, मध्य भाग में प्रजापति मनु, तथा अन्त में साधक-सिद्ध या महर्षि मनु। निर्वेद सर्ग तक वह 'मानव मात्र' का प्रतिनिधि है और उसके बाद 'व्यक्ति' का प्रतिनिधि बन जाता है, इसीलिए 'मानव को इड़ा के साहचर्य में परिजन-पुरजन-समेत आनन्द प्राप्ति के लिये अलग यात्रा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त मनु, (श्रद्धा और इड़ा) 'नारियों' के सन्दर्भ में, 'पुरुष' का प्रतिनिधित्व भी करता है और वर्तमान संघर्षात्मक युग के मानव का भी, जो जीवन की विषमताओं का शिकार है और अहंकार, ईर्ष्या, अतृप्ति आदि विकारों में पड़ कर अनेकों दिशाओं में दौड़ता है पर कहीं भी शान्ति नहीं पाता। प्रथम तीन सर्गों में चित्रित उदात्त-संभावनागर्भित मनु का व्यक्तित्व, परवर्ती सर्गों में विषम वृत्तियों का विडम्बना भरा पुंज बन कर रह जाता है। यह इसलिए भी है कि कामायनी के वस्तु-विन्यास में पाई जाने वाली विषमता का वाहक मनु ही है। अन्तिम सर्गों में श्रद्धा के पथ निर्देशन में उसे जीवन की चरितार्थता मिलती भी है, परन्तु वह अपने चरित्र-गुणों से अर्जित या सहज-विकास का परिणाम नहीं है, 'महाचिति' की अकारण अनुकम्पा का ही फल है।

श्रद्धा इस काव्य का सब से उज्ज्वल चरित्र है। मनु की सारी विषमताओं एवं प्रश्नाकुलता का समरस समाधान कवि ने श्रद्धा द्वारा ही करवाया है। इसी आधार पर पुस्तक का नामकरण 'कामायनी' किया गया है और इस काव्य को नायिका-प्रधान काव्य कहा गया है। श्रद्धा या कामायनी मानव-की उदात्त वृत्तियों का—दया, सहनशीलता, ममता, विश्वास, समर्पण, मधुरिमा क्षमा, और मंगल-कामना आदि का प्रतिनिधित्व करती है। कामायनी के उत्तरार्द्ध में वह अपरिमेय उदारता भरी 'मातृमूर्ति' कही जा सकती है। नव जागरण काल की स्वच्छन्दता एवं स्वच्छता के फलस्वरूप नारी-प्रतिमा में औदात्य एवं सौन्दर्य की जो भी कल्पना की जा सकती थी, श्रद्धा उसका प्रतिनिधित्व करती है। पर 'विडम्बना' यह है कि मनु की तरह श्रद्धाएं भी तीन हैं—प्रथम, स्वस्थ-प्रवृत्ति-परक जीवन दृष्टि का प्रतीक है, द्वितीय कोमलता में बल खाने वाली, छुई-मुई, छायावादी नारी है और तृतीय सर्व-मंगला,

---

१ कामायनी, आमुख, पृष्ठ ७, इलाहाबाद, सं० २०००।

अध्यात्म-पथ-प्रदर्शिका और स्मिति मात्र से सभी प्रकार की विषमताओं का परिहार करने वाली पराशक्ति का प्रतीक है। श्रद्धा के प्रथम दो रूप, लौकिक धरातल पर क्रमशः दीप्ति एवं मधुरिमा मण्डित चित्रित किए गये हैं, जिन में सम्बन्ध सूत्र बना रहता है, परन्तु अन्तिम रूप अतिलौकिक स्तर का है, जिसका श्रद्धा के प्रथम दो रूपों से क्षीण-सम्बन्ध ही कहा जा सकता है। अन्तिम सर्गों की श्रद्धा सारस्वत प्रदेश की दुर्घटना के लिए, मनु की अपेक्षा, इड़ा को दोष देती है। इसका चिन्तन की दृष्टि से चाहे औचित्य सिद्ध किया जा सकता हो, परन्तु चित्रण की दृष्टि से औचित्य नहीं है। वस्तुतः अन्तिम सर्गों की श्रद्धा सामान्य-मानवी न रहकर 'कामेश्वर की पूर्ण कला' (या पूर्ण काम की प्रतिमा बन गई है। फलस्वरूप इसकी स्मिति मात्र से 'त्रिपुर' का वैषम्य समाप्त हो जाता है। 'शून्य रागमय हो जाता है, और जगजग मुखरित हो उठता है।[1]

इड़ा इस काव्य का तीसरा प्रमुख चरित्र है। वस्तु-विन्यास में विच्छेद का सबसे अधिक 'दुष्परिणाम' इड़ा को भुगतना पड़ता है, यद्यपि उसका कथा-फलक पर आगमन श्रद्धा की अपेक्षा भी अधिक दीप्तिमय है :—

> बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
>
> ....
>
> था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन रस सार लिए
> दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।[2]
>
> ....

और जब इड़ा बोलती है, तब "प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल"[3] बोलती है। 'स्वप्न' (सर्ग) में श्रद्धा को जो इड़ा का रूप दिखाई देता है, वहाँ भी —

> 'वह सुन्दर आलोक किरण सी हृदय भेदिनी दृष्टि लिए
> जिधर देखती, खुल जाते हैं तम ने जो पथ बन्द किए।
> मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी।[4]
>
> ....

---

१ कामायनी, आनन्दसर्ग पृष्ठ—२३१।

२ कामायनी, इड़ा सर्ग, पृष्ठ १३६।

३ कामायनी, इड़ा सर्ग, पृष्ठ १४०।

४ कामायनी (स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १४६, इलाहाबाद, २०००।

इसका यदि कुछ 'दोष' (?) है, तो इतना ही कि वह मनु के अतिचार का प्रतिरोध करती है, हाँ में हाँ नहीं मिलाती।[१] परिणामस्वरूप देव शक्तियाँ और प्रजा मिलकर मनु पर आक्रमण करते हैं और मनु मृतप्राय होकर गिर पड़ते हैं। यहाँ तक इड़ा में कहीं दोष का लेश मात्र भी नहीं है। कथा अपनी स्वाभाविक परिणति पर पहुँची प्रतीत होती है। तभी पुत्र समेत श्रद्धा का कथा क्षेत्र में पुनरागमन होता है और यहीं से प्रसाद का इड़ा के विरुद्ध दृष्टि दोष या पूर्वाग्रह प्रकट होने लगता है। इस पूर्वाग्रह का विकट रूप इन विख्यात पंक्तियों मे प्रकट होता है —

"सिर चढ़ी रही। पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय।"[२]

हमारी आपत्ति यह नहीं कि इस पंक्ति में बुद्धिवाद की एकांगिता क्यों दिखाई गई है। आपत्ति यह है कि कथा-विकास में इड़ा का एक भी कृत्य ऐसा नहीं है जिससे इस कथन की संगति बैठ सकती हो। संगति बिठाने के लिए हमें प्रसाद के चिन्तन-क्रम की शरण लेनी पड़ती है। और जहाँ कविता स्वयं न बोले, या जो कुछ बोले उसकी संगति बिठाने के लिए कविता से बाहर पड़े, वहाँ कवि की स्पष्ट असफलता है। बड़े से बड़ा कवि भी अपनी रचना या पात्रों के साथ मनमानी नहीं कर सकता। सन्तान की तरह अस्तित्व में आते ही पात्र अपनी राह चलने लगते हैं। प्रसाद ने बुद्धिवाद का प्रतिषेध करने के उत्साह में बुद्धि को ही दोषी ठहरा कर 'अत्याचार' किया है, और उस पर अपनी राह आरोपित की है। यह मनु द्वारा इड़ा पर 'अतिचार' के प्रयास से कम बुरा नहीं है। और अन्त में इड़ा को भी 'गैरिक वसना' सन्ध्या सी बना कर आनन्द भूमि में पहुँचाया गया है, वह तब भी 'किंचित् ग्लानि लिये' श्रद्धा के चरणों में विनत होती है, और 'कुछ-कुछ मुसकाकर'[३] मनु भाषण देने लगते हैं। (यहाँ मनु श्रद्धा और बुद्धि में सामरस्य नहीं है।)

१०. **चिन्तन पक्ष का चरित्रों पर कुप्रभाव**—इस प्रकार वस्तु-विन्यास एवं चरित्र-चित्रण में प्रसाद की आंशिक सफलता ही मिली है क्योंकि दोनो स्थानों पर प्रसाद के चिन्तन-क्रम का आग्रह उनके सहज-विकास एवं परिणति में अवरोधक रहा है। चिन्तन की गुरुता चरित्रों के

---

१ कामायानी, संघर्ष सर्ग, पृष्ठ १५७, १५८, १६२।

२ कामायनी, दर्शन सर्ग, पृष्ठ १६३।

३ कामायनी, आनन्द, सर्ग, पृष्ठ २२८, इलाहाबाद, २०००।

व्यक्तित्व के लिए दुर्वह रही है। उदात्त की दृष्टि से श्रद्धा का चरित्र अपेक्षाकृत कम खण्डित हुआ है, उसमें उदात्त गुण प्रचुर मात्रा में हैं। मनु का व्यक्तित्व प्रारम्भ में उदात्त गुणों का आभास देकर ईर्ष्या एव अहंकार आदि चरित्र-दोषों के कारण तीव्रता के अपकर्ष की ओर गया है। मूर्च्छित होने के पश्चात् वह स्वयं नहीं चलते श्रद्धा उन्हें चलाती है। के 'आनन्द' सर्ग का औदात्य मनु के निजी चरित्र गुणों से अर्जित नहीं है, श्रद्धा के अनुग्रह की देन है। इड़ा में उदात्त कोटिक सभी सम्भावनाएं थीं, परन्तु उसे बरबस ग्लानि-ग्रन्थि होने वाली बना दिया गया है। आनन्द सर्ग में भी इसका परिहार नहीं किया गया।[1]

११. भाव-योजना और औदात्य—कामायनी की भाव-योजना में अनन्य-साधारणता या निजी वैशिष्ट्य है। सामान्यतः प्रबन्धकाव्य में वस्तु-विन्यास एवं पात्रों के क्रियाकलाप के माध्यम से भाव एवं चिन्तन प्रतिफलित होते हैं, परन्तु कामायनी में पात्र गौण हैं, और क्रिया-कलाप पृष्ठ भूमि में घटित के रूप में वर्णित हैं। भावों के चित्रण को प्रसाद ने इतनी अधिक महत्ता दी है कि लगभग आधे सर्गों के नाम भावों से ही सम्बद्ध हैं।

कामायनीकार को भावयोजना में एक साथ स्वच्छन्द-कल्पना एवं महदादर्श-प्रेरित चिन्तन का योग है। वह 'चिन्ता' की विपय त्रासद-स्थिति से, मनुष्य को निकाल कर, समरस अखण्ड आनन्द की उत्कृष्ट स्थिति में ले जाना चाहता है। कामायनीकार की दृष्टि में मानवीय व्यापार के नियामक धर्म की अपेक्षा कर्म के प्रेरक भावों (या 'काम') की समस्या का निरूपण अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसीलिए उसने किसी मर्यादा संस्थापक 'पुरुषोत्तम' के चरित से सम्बद्ध 'रामायण' न लिख कर प्रेम कला की लीला का उदात्त सन्देश देने वाली[2] काम बाला श्रद्धा से सम्बद्ध 'कामायनी लिखी है। पात्रों या घटनाओं की अपेक्षा वह प्रत्येक भाव वृत्ति का जम कर चित्रण करता है, उनकी सूक्ष्म विवृत्तियों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का उद्घाटन करता है, उनमें रमता है। तुलसी की अपेक्षा वह सूर की परम्परा के अधिक समीप है। उसका आदर्श वाल्मीकि की नैतिक दृष्टि की अपेक्षा कालिदास के सौन्दर्य-बोध एवं

---

१ कामायनी, आनन्द सर्ग, पृष्ठ २२७–२८।

२ यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका सन्देश सुनने को
संसृति में आई वह अमला॥
—कामायनी, कामसर्ग पृष्ठ ३३।

जीवनानन्द के अधिक समीप है। प्रसाद का चिन्तन अपनी गरिमा एवं समृद्धि में महाकाव्योचित है, परन्तु उसकी वृत्ति कार्य-व्यापार या चरित्रों की अपेक्षा भावों की सूक्ष्म विवृतियों में रमणशीला एवं प्रगीत की मधुरिमा के अनुकूल हैं। फलस्वरूप कामायनी चिन्तनान्वित-प्रगीत-प्रबन्ध अथवा अपनी ही तरह का *महाकाव्य बन गया है।*

प्रबन्ध काव्य में सहृदय के भावोद्‌बोध के लिए विभावों (आलम्बन एवं उद्दीपन) की योजना का आधार लिया जाता है। परन्तु कामायनी में यत्रतत्र भाव ही आलम्बनवत् चित्रित हैं। भावों की स्वरूप-विवृत्ति के लिए प्रभावों के चित्रण को आधार बनाया गया है, अर्थात् भावों से अनुभावों (भाव-सूचक विकारों) की उत्पत्ति की अपेक्षा अनुभावों के चित्रण से भाव-स्वरूप को निरूपित किया गया है। अतः पाठक से सामान्य सहृदय की तुलना मे कहीं अधिक सतर्क एवं कल्पनाशील होने की अपेक्षा की गई है। कामायनी की कथित दुर्बोधता का एक कारण यह भी हो सकता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में-भावुक या भाव प्रवण पाठक 'कामायनी' के लक्ष्मीभूत श्रोता नहीं है, चिन्ताशील सहृदय को लक्ष्य करके ही वह लिखी गई है। उसी को उसमें आनन्द आयेगा।[१]

१२. **कामायनी के विशिष्ट उदात्त स्थल**—भावोदात्य की दृष्टि से कामायनी के तीन-चार स्थल अतिशायी-प्रभाव-क्षमता के कारण सम्पूर्ण पुस्तक में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम 'चिन्ता' सर्ग में सर्व-ग्रासी महाप्रलय का अविस्मरणीय चित्र है, जो अबाध एवं अप्रमेय शक्तिमत्ता में दृश्योदात्त का उत्कृष्ट निदर्शन है। संयोगवश प्रलय के मुख से बच निकले मनु देव विलास-जन्य प्रलय और प्रलय-जनित चिन्ता से अभिभूत हैं। प्रथम तो वह चिन्ता पर ही चिन्तन करते चित्रित किये गए हैं। 'विश्ववन की व्याली', 'ललाट की खलरेखा', 'हरीभरी-सी दौड़धूप', 'जलमाया की चलरेखा', 'व्याधि की सूत्रधारिणी' आदि सम्बोधन या एक के वाद एक·······अनेकों ·· ····बिम्ब चिन्ता के सर्वघाती कुटिल एवं प्रवंचक रूप के साथ-साथ, उसकी दूरगामी कुप्रभाव-क्षमता को व्यंजित करते हैं। तदनन्तर मनु को प्रलय-पूर्व-देवसृष्टि की स्मृतियाँ घेरने लगती हैं। निर्बाध-विलास, अतृप्ति एवं विकलवासना में डूबी देव-सृष्टि का स्वयं ही अपने अतिवाद में विनष्ट होना याद आता है। किसी अज्ञात शक्ति की देवसृष्टि के प्रति निराशा ही मानो 'प्रालेय हलाहल नीर' का

---

१ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, विचार और वितर्क, पृष्ठ ७८, जबलपुर, २००२।

रुद्ररूप धारण कर बरसने लगती है। मनु का चित्त ग्लानि, वितृष्णा, खेद, निर्वेद, शोक, त्रास, निराशा एवं विस्मय आदि अनेकों भावों के आलोड़न विलोड़न से अभिभूत हो उठता है। उसे याद आता है—

'दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके॥

× × ×

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलतीं
फन फैलाए व्यालों सी।
धँसती धरा धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।
सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिन्धु के विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ चूभ थी विकलित सी।[1]

× × ×

चपलाएँ उस जलधि, विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं
ज्यों विराट वाड़व ज्वालाएँ
खण्ड खण्ड हो रोती थीं॥[2]

'महाप्रलय' की अप्रमेयशक्ति के स्तवन करने वाले इस दृश्योदात्त के पश्चात् दूसरा उत्कृष्ट स्थल नर और नारी के मादक प्रणय-व्यापार से सम्बद्ध है। उसके लिए भूमिका 'आशा' सर्ग से ही बँधने लगती है—प्रलय के पश्चात् प्रकृति का विवर्ण मुख पुनः मुस्कराने लगता है। बीता हुआ, त्रासद सर्वग्रासी

---

१ कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ १८।

२ कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ २०–२१।

दृश्य भी कवि को ऐसे प्रतीत होता है जैसे विराट् की रति-क्रीड़ा ही हो। वह कहता है—

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किए सी ऐंठी सी ।।[1]

और आकाश उसे ऐसे लगता है जैसे—

इन्द्रनील मणि महाचषक था
सोम रहित उलटा लटका,
आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका ।।[2]

इस खुलेपन और त्रास-मुक्ति के भाव के साथ-साथ मनु को दूसरे प्रश्न घेरने लगते हैं। मनु सोचते हैं 'यह सब क्या है', किसके संकेत से यह सब चल रहा है? धीरे-धीरे मनु की जिजीविषा पूर्णतः जागृत हो जाती है। एक ओर वह तप में निरत हो नियमित कर्म मे लग जाते हैं, परन्तु दूसरी ओर उन्हें 'यौवन की मतवाली' रजनी के बिखरे वैभव से अपने अभावों की अनुभूति सताने लगती है। तभी 'श्रद्धा' का आगमन होता है। रूप सौन्दर्य एवं चारित्रिक गरिमा के अनुरूप ही श्रद्धा भाव का औदात्य भी सहजोत्कर्षक है। श्रद्धा-भाव से सम्पूर्ण सृष्टि-व्यापार "महाचिति की आनन्दमयी लीला के" विविध रूपों की भंगिमा प्रतीत होता है। जीवन की मंगलमूलता के प्रति पूर्ण आस्था और भविष्य में अभ्युदय के प्रति पूर्ण विश्वास-भावना जागृत होती है। 'वासना' एवं 'लज्जा' सर्ग में प्रसाद का कवित्व अपने सहजोत्कर्ष पर है। यहाँ 'नर' के 'नारी' के प्रति आकुल आत्म-निवेदन और नारी के अवश आत्म-समर्पण की चिरन्तन रहस्यमयता, माधव-यामिनी के मादक चित्रण से संवलित होकर, परम-मोहन रूप में व्यक्त हुई है। सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग के रूप में 'प्रिय-मयता' के ये क्षण, नर-नारी के सनातन सम्बन्धों के प्रतीक हैं, अपनी अभिभूति क्षमता में अपूर्व एवं सृजन-रहस्य की मंगलमयता के कारण निसर्गतः उदात्त हैं। 'लज्जा' सर्ग में 'चेतना के उज्ज्वल वरदान'-सौन्दर्य का व्यापक स्तर पर चित्रण है। प्रसाद की भाव-योजना में असाधारणता का एक कारण यह भी है कि प्रसाद प्रत्येक भाव को एक विशाल और

---

१ कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृष्ठ २०–२१।
२ ,, ,, ,, ,,।

बहुत बार विश्वाश्लेषी आधार-फलक पर चित्रित करते हैं, जिससे सहज ही वह भाव एक लोकातिशायी शक्ति का व्यापार बन जाता है। इसीलिए 'लज्जा' नारी मात्र की 'लज्जा' बन जाती है और सौन्दर्य 'अम्बर-चुम्बी हिम शृङ्गों से' लेकर 'कोमल किसलय के मर्मर रव' तक व्याप्त हो जाता है।

कामायनी का अन्तिम भाग यद्यपि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से पूर्ववर्ती सर्गों से विच्छिन्न है, और उसमें कवि की अपेक्षा चिंतक का स्वर प्रधान है, पर इतने से ही वह रामचरित मानस का "उत्तरकाण्ड' नहीं हो जाता। उसमें भावोत्कर्ष की दृष्टि से (स्वतन्त्र रूप में ही सही) एक दो स्थल पर्याप्त उज्ज्वल हैं। यदि 'चिन्ता' सर्ग में भावगत औदात्य का क्षेत्र महाप्रलय का सर्वग्रासी विराट् रूप है, और 'वासना' एवं 'लज्जा' सर्गों में रागवृत्ति (सिसृक्षा) की सर्वव्यापी मोहकता में औदात्य है तो अन्तिम तीन सर्गों में द्वन्द्वातिक्रामी अभेद-दृष्टि या चेतना की उज्ज्वलता में भावोत्कर्ष है। मनु ज्यों ही श्रद्धा के 'निर्विकार मातृ-मूर्ति' रूप के समक्ष अपनी लघुता से अवगत होते हैं त्यों ही श्रद्धा के अनुग्रह से उन्हें 'अव्यक्त' की या 'शून्यसार' की अनन्तता और 'व्यक्त की सर्वांग ज्योतिमत्ता' के 'दर्शन' होते हैं। वे देखते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया —संहार और सृजन—महाचिति की ताण्डव लीला से ही उद्भूत हैं, और वह समरस अखण्ड आनन्द रूप है।

'दर्शन' सर्ग के अन्तिम सात पद्यों में चित्रित अप्रमेय-शक्तिमत्ता एवं कमनीयता का प्रभावपूर्ण चित्र चित्त को श्रद्धाभिभूत कर देता है।

'रहस्य' सर्ग में मनु श्रद्धा के अनुग्रह से ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ से जीवन की विषमता के मूल कारण—इच्छा, ज्ञान, क्रिया में वैषम्य—का रहस्य स्पष्ट ज्ञात हो जाता है और वे उससे ऊपर उठ जाते हैं। इस सर्ग में चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक प्रबल है। 'आनन्द' सर्ग भावौदात्य की दृष्टि से सहज प्रसन्नता, दीप्ति एवं द्वन्द्वातीत शान्ति की उज्ज्वलता लिए हुए है। वहाँ पहुँच कर 'श्रम', ताप और पथ-पीड़ा, क्षण भर में 'अन्तर्हित हो जाते हैं। 'जगत् की मात्र मंगलकामना', पुलकित विश्वचेतना एवं 'पूर्ण काम की प्रतिमा' कामायनी के विहँसने मात्र से 'सम्पूर्ण सृजन पर मादन मृदुतम कम्पन छा जाती है।'

१४. अभिव्यक्ति पक्ष और औदात्य—कामायनी के प्रतिपाद्य का प्रभाव प्रतिपादन-भंगिमा में भी तद्वत् देखा जा सकता है, क्योंकि तात्विक दृष्टि से दोनों पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। एक की गरिमा या दरिद्रता का दूसरे में प्रतिफलित होना अनिवार्य है। जिस प्रकार प्रसाद ने जीवन की विषमताओं

के मूलभाव की खोज में सुदूर अतीत का अवगाहन किया, उसी प्रकार प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति के लिए वैदिक-पौराणिक प्रतीकों एवं कालिदास प्रभृति कवियों के रम्य-अद्भुत बिम्बों एवं उपमानों का प्रयोग किया। फिर भी उनमें अपूर्व ताज़गी और मौलिकता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि प्रसाद का प्रतिपाद्य नया एवं प्राणवान है। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में— 'प्रसाद के समस्त काव्य-सृजन में भारतीय काव्य-परम्परा का मूल्यवान प्रदेय सन्निहित है, परन्तु प्रसाद ने अपनी अतिक्रामक प्रतिभा के द्वारा इस परम्परा को सभी दिशाओं में आगे बढ़ाया है। "वक्रोक्ति बहुल लाक्षणिक पदावली की योजना से प्रसाद की भाषा एक अभिनव भंगिमा से समन्वित हो सकी है।"[1]

प्रसाद की काव्य-भाषा का आदर्श कालिदास में हो सकता है,[2] परन्तु वह उस आदर्श तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। कालिदास की-सी प्रांजलता, परिष्कार, स्वच्छता एवं सहजता कामायनी की भाषा में नहीं है। कालिदास भी शैव थे और आनन्दवादी दृष्टि से चालित थे, परन्तु कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में जितना शैव दार्शनिक पदावली का प्रयोग हुआ है, उसका दशमांश भी कालिदास के सम्पूर्ण काव्य में नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कालिदास की रचनाओं में उसका 'कवि' सर्वोपरि है, परन्तु कामायनी में कवि और पण्डित साथ-साथ है। कामायनी के अन्तिम सर्गों में तो कवि की अपेक्षा 'पण्डित' का स्वर प्रमुख है। इसीलिए यद्यपि प्रसाद ने कामायनी में श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। फिर भी प्रतिपादन में कहीं भी श्रद्धा-भाव की प्रमुखता नहीं है। हर जगह चिन्तक का स्वर गूंजता रहता है। स्थान-स्थान पर चिन्तन-सूत्र एवं सूक्तियाँ मिलती हैं, परन्तु, इतना अवश्य है कि वे मात्र 'सपाट-बयानी' नहीं है। अधिकांश स्थानों पर सूक्तियों में एक विशेष प्रकार का स्वानुभूत तनाव एवं भाव-सिक्तता ध्वनित होते रहते हैं। भावों की सूक्ष्म विवृति मे भी चिन्तन अनुस्यूत है अतएव "कोमलता में बलखाती हुई" भाषा में भी एक प्रकार की गरिमा एवं असाधारणता बनी रहती है।

१५. चिन्तन की प्रमुखता के साथ-साथ प्रसाद का सौन्दर्य-प्रेमी रूप भी कामायनी में सर्वत्र वर्तमान है। अमूर्त भावों के रूपायन में या प्रकृति के वर्णन में अथवा पात्रों के चित्रण में सर्वत्र प्रसाद की रसग्राही दृष्टि प्रकट

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, कवि निराला, पृष्ठ १८४, वाराणसी—१९६५।

२ वही०, पृष्ठ ८६।

चित्रण में पूर्णतः प्रतिफलित नहीं हो पाई, इसकी पात्र-योजना दुर्बल है और इसका अभिव्यक्ति पक्ष सदोष है, फिर भी समग्रता में कामायनी का प्रभाव असाधारण अभिभूति-क्षमता का है। शुद्धोदात्त की दृष्टि से चाहे कामायनी प्रथम श्रेणी का महाकाव्य न हो, पर यह छायावाद काल की अन्यतम कृति है। इसका औदात्य असंदिग्ध है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

१. महत्ता—आधुनिक हिन्दी काव्य में, कालक्रम में प्रसाद के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का है। छायावादी काव्य की विख्यात कोमलता, सुकुमारता, सूक्ष्मता एवं अमूर्त कल्पनात्मकता के बीच निराला-काव्य पौरुष, प्रखरता, मूर्तता तथा मानवीय संवेदना की गहराई एवं तीव्रता का काव्य है। इसमें ओज और करुणा, व्यंग्य और विनय, विद्रोह और समर्पण तथा राग एवं विराग आदि 'विरुद्धों का अनूठा सामंजस्य' है। विविध अनुभूतियों के चित्रण में एक साथ उद्दाम आवेग एव अबाध संयम तथा गहरी संपृक्ति एवं अनूठी निर्वैयक्तिकता के सम्मिश्रण से इस स्वच्छन्द कवि के कृतित्व में अपनी ही तरह की गरिमा आगई है। मानव की बन्धनों से मुक्ति के समर्थक और काव्य की छन्द से मुक्ति के प्रवर्तक निराला का आधुनिक हिन्दी कवियों में अन्यतम स्थान है। कथ्य के अनुरूप काव्य-भाषा का इतना विविध और समर्थ प्रयोग निराला के समकालीन किसी अन्य कवि में नहीं मिलता। समास-प्रधान, अलंकृत, संगीतानुगामी, दीप्त भाषा के साथ-साथ सामान्य बोल-चाल की अनलंकृत, मुक्त-गति भाषा में भी दीप्ति का वही अनूठापन निराला-काव्य में प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

सांस्कृतिक नव जागरण के उस मोहक वातावरण में भी महाप्राण निराला प्राचीन अध्यात्म-चिन्तन के मानव-केन्द्रित सजाव-सिंगार एव व्याख्यायन आदि में ही सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु इन्होंने वास्तविक मानव की पीड़ा, शोषण क्षोभ एवं आक्रोश को पूरी गहराई से अनुभव किया और उसे अबाध अभिव्यक्ति दी। निराला की अपने सम्बन्ध मे यह उक्ति—

> अपने आँसुओं अतः बिम्बित,
> देखे है अपने ही मुखचित ।।' (सरोजस्मृति)

उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समझने का मूल सूत्र है। मानव में आस्था एव मानव की पीड़ा के साथ इसी तादात्म्य के कारण निराला काव्य में उद्दाम शक्ति एवं अभिभूति क्षमता है। जहाँ-जहाँ उन्हें प्राचीन-चिन्तन एवं

मानव की विषम स्थिति मे विरोध दिखाई दिया, वहाँ-वहाँ इन्होंने शास्त्रों का परित्याग कर मानव का साथ दिया है। इस दृष्टि से निराला छायावादी काव्य के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परवर्ती काव्य की चेतना एवं उच्चावच्च भावभूमियों के भी संवाहक तथा प्रतिनिधि कवि हैं। अपनी अनुभूतियों और कृतित्व के प्रति ईमानदारी का इतना सच्चा प्रतीक प्रायः कम मिलता है। परन्तु अपनी सम्पूर्ण असाधारणता एवं प्रौढ़ता में भी निराला कहीं अति-सवेदनशील स्वप्न द्रष्टा किशोर थे। अतः निरन्तर संघर्ष करते-करते ज्योंही उनकी आस्था टूटी और अर्थाभाव में उनकी पुत्री सरोज की मृत्यु हुई त्योंही वह स्वयं टूटने और विखरने लगे। टूटने एवं विखरने से पहले निराला ने अपनी सम्पूर्ण सर्जनात्मक शक्तियों को सँजोकर 'राम की शक्ति पूजा' एवं 'तुलसीदास' नामक लम्बी कविताओं की रचना की। इस प्रयास में उन्हें इन रचनाओं में तो अद्भुत सफलता मिली, परन्तु जीवन में वह बिखराव और भटकाव का शिकार होने से न बच सके। मानसिक असन्तुलन की विकट स्थिति में भी उन्हें सृजन क्षण मिलते रहे। परन्तु इन क्षणों में असन्तुलन के पूर्वार्द्ध की रचनाओं में जहाँ तिक्तता और व्यंग्य का आधिक्य है वहाँ उत्तरार्द्ध में आर्त और थके हुए हृदय का क्षीण होता हुआ चीत्कार है। फिर भी प्रत्येक रचना में मानवीय सम्वेदना की गहराई बनी रहती है। इन रचनाओं में 'प्रगतिशीलता' या 'भक्तिभाव' ढूँढना असंगत है। समन्वित और स्वस्थ दृष्टि के अभाव में भी इन रचनाओं में व्यक्त अनुभूति की ईमानदारी हृदय की गहराइयों को स्पर्श करती है। असाधारण का असन्तुलन भी साधारण के सन्तुलन से अधिक प्रभावशाली होता है।

सम्पूर्ण निराला-काव्य में कुछ अंश ऐसा भी है जो नितान्त जड़, ठूँठ और अस्पष्ट है; कुछ ऐसा भी है, जो अतिरिक्त तिक्तता लिए हुए है; पर उसका अधिकांश ऐसा है, जिस पर हिन्दी ससार गौरव एव गर्व अनुभव कर सकता है। उदात्त की दृष्टि से वही अंश महत्त्वपूर्ण एवं विवेच्य है। ऐसी रचनाओं में 'राम की शक्ति पूजा' एव 'तुलसीदास'[२] सर्वाधिक चर्चित हैं।

---

१ निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, अनामिका, पृष्ठ १४८–१६५ इलाहाबाद, संवत् २००५।

२ निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, तुलसीदास, इलाहाबाद, संवत् २०१६।

राम की शक्ति पूजा में औदात्य

२. (क) **आधार एवं प्रतिपाद्य**—'राम की शक्ति पूजा' एक आख्यानक रचना है, जिसका प्रमुख आधार 'शिव महिम्न स्तोत्र' में प्राप्त सकेत के अतिरिक्त 'देवी भागवत' और उससे भी अधिक बगला-रचना 'कृतिवासीय रामायण' बताया जाता है।[1] प्रस्तुत रचना की महत्ता इस बात में है कि यहाँ पौराणिक आख्यान के माध्यम से कठिनतम सकट में भी मानव-जीवन के उदात्त पक्ष में और उसकी अजेयता में आस्था व्यक्त की गई है। राम, यहाँ द्वन्द्वातीत, लोकातिशायी पूर्ण पुरुष नहीं है, अपितु सामान्य मनुष्य की आशा, निराशा, सकट एवं संघर्ष आदि का सामान्य मानवीय धरातल पर प्रतिनिधित्व करते हैं। यह स्वच्छन्दताकाल की मानव-केन्द्रित चिन्तन-दृष्टि का परिणाम है। **रचना की मूल समस्या 'सत्' और असत्' के संघर्ष में 'सत्' की निराश्रितता का संकट है,** जो मानवीय मूल्यों में विश्वास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक चुनौती है। राम के समक्ष यह चुनौती तब, ऐसे ही आहत और स्तब्ध कर देने वाले सकट के रूप मे, उपस्थित होती है, जब रावण से संघर्ष करते हुए वह देखते हैं—

'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति'।

सारी रचना इसी स्थिति से जूझने, चुनौती को स्वीकारने **और संकट** से उबरने के उपाय की खोज से सम्बद्ध है। जितनी यह समस्या युग-युग में विभिन्न स्थितियो के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है, उतना ही ऐसी स्थिति से जूझने का उपाय भी अर्थवान है।

(ख) **कथा-विकास**—कथासूत्र संकट की स्थिति के अनुरूप रवि हुआ अस्त', से उठाया गया है। यहीं कवि आज के 'अपराजेय' (अनिर्णीत) 'समर' पर क्षिप्रता से दृक्पात करता है। वाक्य एक ही है पर सोलह सत्रह पंक्तियों तक फैला हुआ है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द कन्धे से कन्धा भिड़ाए उसी तरह ठेलपेल कर रहे हैं, जिस तरह आज के अनिर्णीत युद्ध में दिन भर क्षुब्ध योद्धा जी जान से संघर्ष में जुटे ठेलपेल करते रहे है। दो-दो, तीन-तीन, शब्दों में कवि ने युद्ध के अनेकों दृश्यों को पूरी गत्वरता में मूर्तिमान कर दिया है। दिन भर के 'प्रतिपल परिवर्तित' व्यूहों की रचना और व्यूहों के 'भेद-कौशल-समूह' प्रत्यक्ष घटित से प्रतीत होने लगते हैं। 'राघव-लाघव,—रावण-वारण,—

---

१ जयरामन्, 'राम की शक्तिपूजा का आधार' —धर्मयुग, पृष्ठ १६,
—४ फरवरी, १९६८ ।

गत युग्म प्रहर' जैसी एक छोटी पंक्ति ही, अनवरत दोपहर तक क्षिप्रता एवं चतुराई से राम द्वारा रावण पर किए गए आक्रमणों और रावण द्वारा पूरे सामर्थ्य से उनके निराकरण का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देती है। 'आज' के युद्ध का चित्रण समाप्त होते ही वही क्षिप्रगामी छन्द कथ्य के अनुरूप, थकी, टूटी और खिन्न वानर सेना की तरह श्लथ थका, डगमगाता-सा चलने लगता है।

तदनन्तर राम के हृदय को अभिभूत करने वाली, निराला के अनुरूप वातावरण प्रस्तुत करने वाली, प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

इनमें तीसरी पंक्ति रावण के औद्धत्य को और चौथी ध्येयोन्मुख राम की एकाग्रता को भी संकेतित करती है। परन्तु राम एक ओर अप्रतिहत गरजते रावण से और दूसरी ओर दिशा ज्ञान-रहित निराशा के अन्धकार से घिरे हैं। ऐसे समय राम के हृदय में सीता से प्रथम-मिलन की स्मृति अन्धकार-घन में विद्युत-सी कौंध जाती है। पुनर्वार विश्व-विजय की भावना से हृदय भर जाता है। भिन्न-भिन्न राक्षसों के साथ युद्ध और विजय के चित्र स्मृति पट पर उभरते हैं। फिर अन्त में रावण की आज की 'भीमा मूर्ति' समग्र नभ को आच्छादित किए हुए सम्मुख आ खड़ी होती है, और उस उद्धत का 'खल खल' करता अट्टहास सुनाई देता है। राम स्मृति से वास्तविकता में और मधुर अतीत से वर्तमान की आनद स्थिति में आ गिरते हैं। उनकी आँखों में आँसू भर आते हैं।

यहीं निराला के आस्तिक हृदय ने महावीर हनुमान के अतिलौकिक 'शक्ति-वेल-सागर अपार' का विस्मयाभिभूत करने वाला चित्रण किया है। इस प्रासंगिक (प्रकरी) अंग के बाद कथानक पुनः मानवीय धरातल पर आ जाता है।

राम की निराशा इतनी घनी है कि उस पर विभीषण के ओजस्वी प्रोत्साहक शब्दों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। हताश भाव में डूबे राम उत्तर देते हैं—

'मित्रवर, विजय होगी न समर,
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,

उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण,
अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति।'

रेखांकित पंक्ति कविता के कथ्य की, राम की निराशा, या मानवीय मूल्यों में विश्वास करने वाले व्यक्ति के संकट, की द्योतक पंक्ति है। कवि ने जाम्बवान के मुख से ऐसी समस्या के निराकरण, या संकट से निबटने का उपाय कहलवाया है—

'विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
है पुरुष सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर
....

रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध, करोगे उसे ध्वस्त,

यह उपाय 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' जैसे नीति वाक्यों का अनुवाद नहीं है, अपितु मूल्य-मूढ़ता से उबारने वाले उत्कृष्ट-चिन्तन का द्योतक है।[1] इस उत्तम उपाय को सुन कर सभा स्वभावतः खिल उठती है। पर उपाय चाहे कितना ही उत्तम हो उसका मात्र-ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। जितना ही संकट विकट होता है, उतना ही उससे जूझने और उबरने के *उपाय को कार्यान्वित* करने के लिए, आत्मबल केन्द्रित-मन और निःशेष-भाव से लक्ष्य के प्रति समर्पण शील आस्था की आवश्यकता होती है। और लक्ष्य जब बिल्कुल समीप होता है, तो परीक्षा जटिलतम हो जाती है। यहीं व्यक्तित्व के औदात्य की परख होती है। राम के समक्ष यह जटिलतम स्थिति तब आती है, जब अन्तिम जप से पूर्व पूजा के नीलकमल के लिए उठा हुआ राम का हाथ शून्य में भटकता रह जाता है। राम के नेत्र पुनः छलछला आते हैं। आत्म-ग्लानि में उनके मुख से यह द्रावक पंक्तियाँ निकलती हैं—

---

१ तुलनीय—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
—गीता–३–२५॥

धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध, ।[१]

परन्तु राम का औदात्य अपहृत नहीं होता । कठिनतम संकट की घड़ी में भी—

वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
....
....
यह है उपाय, कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन
कहती थीं माता मुझे सदा राजीव-नयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ मात: देकर एक नयन ।।

समर्पण की उत्कटता और दृढ़ता के भाव से ब्रह्माण्ड कांप उठता है और महाशक्ति प्रसन्न हो राम के वदन में लीन हो जाती है ।

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार प्रस्तुत रचना में 'राम के संघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है, उतना उनकी विजय का नहीं ।[२] वास्तव में विजय यहाँ चित्रित ही नहीं है, मात्र संकेतित है । अत: उसके कम या अधिक प्रभावशाली होने का प्रश्न ही संगत नहीं है । यहाँ औदात्य 'असत्' के निकटतम प्रतीक से जूझने की क्षमता के अर्जन तथा तदर्थ इष्ट के प्रति नि:शेष समर्पण की उत्कटता में व्यंजित हुआ है ।

(ग) कविता की महनीयता—महनीयता की दृष्टि से 'राम की शक्ति-पूजा' का स्थान, निराला-काव्य में ही नहीं, अपितु, सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी काव्य में अन्यतम है ।[३] यह ठीक है कि इसमें महाकाव्य का विस्तार नहीं है, परन्तु वस्तु की महत्ता विस्तार में नहीं, अपितु गहराई एवं व्यापकता में होती है । विस्तार तो अतिरिक्त गुण है । गहराई एवं व्यापकता के कारण

---

१ इन पंक्तियों में आलोचकों ने निराला की निजी व्यथा को भी व्यंजित देखा है । इसके अतिरिक्त निराला के समानधर्मा भवभूति के राम की उक्ति भी इसमें प्रतिध्वनित हुई है—

दु:ख संवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम् । उत्तरराम-चरितम् ।।

२ शर्मा, रामविलास, निराला पृष्ठ ११४, आगरा—१९६२ ।

३ दिनकर, रामधारीसिंह, छायावाद, पृष्ठ ५६, संपा० उदयभानुसिंह, —दिल्ली—(प्र० च० अ०) ।

ही यदि एक ओर महाकाय 'युद्ध और शान्ति' (तालस्ताय) जैसे उपन्यास महान है, तो दूसरी ओर इन्ही गुणो के कारण लघुकलेवर 'बूढा नाविक और समुद्र' (हेमिग्वे) जैसे उपन्यास भी महान् है। अतः विस्तार के अभाव में भी 'राम की शक्ति पूजा' मे महाकाव्य की गरिमा है।

(घ) **भाव वैविध्य**—संकट से जूझने की स्थिति से सम्बद्ध इस तनावपूर्ण रचना में भाव-वैविध्य का अद्भुत सन्तुलन एव सुनियोजन है। क्रोध और वीरता, खिन्नता और संशय, प्रेम और उत्साह, निराशा और विस्मय आक्रोश और निराश्रितता, दिशाबोध और एकाग्रता, सकट की विकटता और समर्पण की उत्कटता आदि स्थितियों का अपूर्व अन्तर्ग्रथित चित्रण इस रचना की अपनी ही विशेषता है। विविध पात्र भी मात्र नाम न होकर अपना-अपना व्यक्तित्व रखते है। राम के अन्तर्द्वन्द्व एव निराशाभाव पर विभीषण, लक्ष्मण, जाम्बवान एवं सुग्रीव आदि की दो-दो तीन-तीन शब्दो मे चित्रित प्रतिक्रिया इन पात्रो के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभार कर प्रस्तुत करने मे पूर्ण सफल हुई है। इसी प्रकार एक ही छन्द का अर्थानुसारी लय-परिवर्तन एव नाद-गरिमा इस रचना की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(ङ) **निष्कर्ष**—इसमे सन्देह नही कि 'राम की शक्ति पूजा' की भाषा मे यत्र-तत्र आयास-जन्य क्लिष्टता है, पाण्डित्य है, परन्तु यह क्लिष्टता और पाण्डित्य रचना के लिए दुर्वह नही बने है। इनसे कथ्य कही भी अपहृत या आच्छादित नही होता। सामान्यतः निराला के सम्पूर्ण-काव्य मे और विशेषतः 'राम की शक्ति पूजा' मे, अर्थावबोध के समय विराम-चिह्नो का ध्यान रखना परमावश्यक है। निराला-काव्य की 'क्लिष्टता' का अधिकाश इस तथ्य की उपेक्षा या अनभिज्ञता का परिणाम है। सारी रचना ऐसे ऊचे धरातल पर निर्मित हुई है कि उसकी गरिमा के सन्दर्भ मे रचना मे आए भाषा सम्बन्धी कतिपय दोष नगण्य रह जाते है।

उदात्त की दृष्टि से 'राम की शक्ति-पूजा' निश्चय ही एक उपलब्धि है।

२. "तुलसीदास" का औदात्य

(क) **प्रतिपाद्य**—'राम की शक्ति पूजा' के पश्चात् निरालाकृत लम्बी रचनाओं मे 'तुलसीदास' नामक रचना महत्त्वपूर्ण है। सास्कृतिक पुनरुत्थान एव नवजागरण काल के विचारो से प्रेरित निराला ने मोहान्ध तुलसीदास के माध्यम से मध्यकालीन भारत के सास्कृतिक अपकर्ष तथा उद्बुद्ध तुलसीदास के

माध्यम से व्यक्ति में युगधर्म के अवतरण एवं नवजागरण के प्रवर्तन को इंगित किया है।

छः-छः पंक्तियों वाले एक सौ पद्यों के इस खण्डकाव्य में बाह्य-कथा नगण्य है। आन्तरिक आरोहण या ऊर्ध्वगमन का विवरण ही महत्त्वपूर्ण है।[1] कथा 'सांस्कृतिक सूर्य के अस्तमित' होने से प्रारम्भ होकर नवजागरण को इंगित करने वाली "प्राची-दिगन्त उर में पुष्कल रविरेखा" पर समाप्त होती है। इस तरह सारी रचना एक विशाल रूपक में ग्रथित है। प्रारम्भ में भारत पर छाए 'अन्धकार' एवं विलासितापूर्ण वातावरण का चित्रण है। इसी चतुर्दिक् सांस्कृतिक अपकर्ष के फलस्वरूप तुलसीदास जैसा 'समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन' व्यक्ति भी मोहबन्धन को मुक्ति मानने की आत्म-प्रवंचना में डूब जाता है। उसकी रत्नावली में आसक्ति वैयक्तिक दुर्बलता की द्योतक होने के साथ-साथ, उससे भी कहीं अधिक देशव्यापी सांस्कृतिक ह्रास का प्रतीक बन जाती है। तुलसीदास के 'अनाहूत' ससुराल पहुँच जाने पर रत्नावली द्वारा उसकी प्रताड़ना एवं अवमानना तुलसी के जीवन का निवर्तन-बिन्दु है जहाँ रत्नावली, अपकर्ष की ओर ले जाने वाली, वामा न रह कर, कामदाहिका 'अनल-प्रतिमा' में परिवर्तित हो जाती है। तुलसीदास के प्रबल संस्कार जाग उठते हैं। उन्हें ऐसे नवीन, भावपूर्ण, उत्कर्षक शब्द सुनाई देने लगते हैं जिनमें आलोक और उज्ज्वलता की अभिव्यक्ति है। फलस्वरूप ऋषिगण हर्षित होते हैं। और जब अपने दायित्व के प्रति प्रबुद्ध तुलसीदास 'चल मन्द चरण' बाहर आते हैं तो हृदय में बसी वही चिर परिचित रत्नावली की मूर्ति 'विश्वाश्रय महिमा धर' बन चुकी होती है और बाहर 'प्राची दिगन्त उर में पुष्कल रविरेखा' का उदय हो रहा होता है। इस प्रकार इस छोटे से खण्डकाव्य में संभावना-सम्पन्न व्यक्ति के 'देशकाल के शर से बिंधकर' जागरण एवं उत्कर्षण का विवरण है।

(ख) तुलसीदास में कवि का अपना युग और व्यक्तित्व—डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार निराला ने इस रचना में मध्यकालीन समाज की मूल समस्या को ठीक तरह पहचाना है और तुलसी के व्यक्तित्व की सही व्याख्या की है।[2] वास्तव में, गोस्वामी तुलसीदास, रूसी तालस्ताय की तरह अपने देश की

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, निराला, पृष्ठ १२२, वाराणसी, १९६५।
२ शर्मा, रामविलास, निराला, पृष्ठ १०८–१०९, आगरा—१९६२।

संस्कृति के दर्पण हैं। अतएव उनमें आलोक एवं अन्धकार तथा जीवन एवं जड़ता दोनों का प्रतिफलन है। समग्रता में गोस्वामी तुलसीदास कम महिमावान नहीं हैं, कहना चाहिए कुछ दृष्टियों से अप्रतिम । परन्तु निराला द्वारा तुलसी को मात्र आलोक-पुरुष के रूप में प्रस्तुत करना निराला के चिन्तन में पुनरुत्थानवादी, भावुकतापूर्ण तत्त्वों या तुलसी के प्रति अतिरिक्त श्रद्धा का परिणाम हो सकता है। एक अन्य कारण यह भी है कि यहाँ निराला ने तुलसीदास के व्याज से, युग-सन्दर्भ में निजी व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी है। इसीलिए इस रचना में जितना तुलसी का चित्रण है, उससे अधिक नहीं, तो उतना ही निराला का है।[1]

इस प्रबन्ध-योजना का मूलाधार विख्यात जनश्रुति है, परन्तु निराला ने उसे ऐसा विस्तृत परिप्रेक्ष्य दे दिया है, जिससे नायक की अपेक्षा देश-काल अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं, व्यक्ति की अपेक्षा संस्कृति का पतनोत्थान अधिक अर्थवान् हो गया है। तुलसीदास 'महाकाल के साधक के रूप में युगपुरुष बन गए हैं। उनकी महत्ता 'करने' मे नहीं, 'हो जाने में' प्रकट होती है। इससे सम्पूर्ण काव्य असाधारण धरातल का हो गया है। यह उदात्त के अनुकूल है।

औदात्य की सीमा—परन्तु सम्पूर्ण काव्य का ग्रथन कुछ इस प्रकार का है कि उसमें सहजता की अपेक्षा प्रयास एवं पाण्डित्य का पलड़ा भारी हो गया लगता है। चित्रण की अपेक्षा वर्णन एवं विवरण प्रधान हो गए है। चरित्र (नायक) की अपेक्षा वैतालिक (कवि) का स्वर अधिक मुखर है। वैसे इस छोटे से प्रबन्ध में विभिन्न ऋतुओं का संकेत-चित्रण है, औपनिपिदिक प्रतीक हैं, जिनमें ज्योति एवं पावन-भाव व्यंजित हैं, कुछ विम्ब असाधारण शक्तिमत्ता एवं सजीवता को व्यंजित करते हैं, छंद में एक विशेष प्रकार की गरिमा एवं गतिमयता है, परन्तु कुल मिलाकर इस खण्ड काव्य के कथ्य पर श्रद्धा तो होती है पर अभिभूति का भाव उत्पन्न नहीं होता, विस्मय तो होता है पर वह विमुग्ध करने की स्थिति तक नहीं पहुँचता। गरिमा की अनुभूति के अनुपात में क्लिष्टता और आयास का भाव अधिक अनुभव होता है। इसीलिए यह रचना प्रथम श्रेणी की रचना नहीं है। कुछ विद्वान् 'तुलसीदास' और राम की शक्ति पूजा' का एक साथ उल्लेख करते हैं, दोनों को समान कोटि की रचनाएँ मानते हैं, यह ठीक नहीं है। 'राम की शक्ति पूजा' में यत्रतत्र

१ मदान, इन्द्रनाथ, आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ २७०–२७१, जालन्धर—१९६२।

किंचित् क्लिष्टता के बावजूद स्वाभाविकता बनी रहती है, मानवीय धरातल बना रहता है। पाठक नायक के अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, निराशा एवं अन्तर्हित अजेय-भावना का सहभोक्ता बना रहता है। चरम संकट के समय राम के इष्ट के प्रति निःशेष समर्पण के क्षण में पाठक भी 'हतचेतन, तीव्र गति' से ऊँचा उठता जाता है। अन्तिम प्रभाव उत्कर्षण अभिभूति एवं उन्मुक्तता का पड़ता है। परन्तु 'तुलसीदास' में उज्ज्वल प्रतीकों एवं बिम्बों के रहते भी प्राणवत्ता उतनी नहीं है। मानवीय धरातल प्रधान नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व एवं तनाव आदि भी (तुलसीदास की दृष्टि से) नगण्य है। कालचक्र का प्रवर्तन प्रधान लगता है। तुलसीदास निमित्त प्रतीत होते हैं। उनका रूपान्तरण भी पट परिवर्तन की तरह लगता है। पाठक स्वयं अन्तर्ग्रस्त (Involved इन्वाल्वड) या सहभोक्ता नहीं बनता। इसीलिए तुलसीदास के उत्कर्षण में उसका अपना उत्कर्षण उतना नहीं होता। वह मात्र द्रष्टा, या विस्मित 'द्रष्टा' बना रहता है। अन्तिम प्रभाव पाण्डित्य एवं क्लिष्टता का पड़ता है और काव्य से पाठक की किंचित दूरी बनी ही रहती है।

३. सरोज-स्मृति

(क) आधार एवं महत्ता—निराला-कृत लम्बी कविताओं में तीसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'सरोजस्मृति'[1] शीर्षक प्रसिद्धशोक-गीत है। जहाँ राम की शक्ति पूजा' का आधार पौराणिक है और तुलसीदास का जनश्रुति, वहाँ 'सरोज-स्मृति' में कवि के स्वानुभूत एवं स्वय-भुक्त जीवन को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रकार की लम्बी रचनाओं में तटस्थता बनाए रखना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है। परन्तु निराला को इस रचना में अद्भुत सफलता मिली है। अतएव विद्वानों ने कवि के दीर्घ प्रगीतों में 'सरोज-स्मृति' को सर्वोत्कृष्ट रचना कहा है।[2] इस कविता में कवि के जीवन की सम्पूर्ण व्यथा एवं उसके व्यक्तित्व की सम्पूर्ण गरिमा एक साथ ऐसे अपूर्व धरातल पर अभिव्यक्त हुई है कि सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी काव्य की करुणोदात्त रचनाओं में 'सरोज-स्मृति' का स्थान अप्रतिम हो गया है।

उन्नीसवें वर्ष के प्रथम चरण में सरोज पिता से विदा लेकर जीवन-सिन्धु पार कर गई। अक्षम पिता को, समय आने पर, जीवन सिन्धु के

---

१ निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, अनामिका, पृष्ठ ११७–१३४, इलाहाबाद, सं० २००५।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, कवि निराला, पृष्ठ १०६, वाराणसी—१९६५।

'दुस्तर-तम' को पार करने में सहायता देने के लिए ही मानो वह पहले चली गई। कवि को सब से बड़ी कचोट इस बात को सताती है कि वह निरर्थक ही 'पिता' था। वह अपनी पुत्री के लिए कुछ भी तो नहीं कर सका। इस 'न कर सकने' की पीड़ा से कवि को अपने जीवन के विना प्रतिरोध हारे हुए 'स्वार्थ-समर' याद आते हैं, तथा विरोधियों द्वारा किए गए 'शर-क्षेप' और 'रण-कौशल' का अपलक झेलना याद आता है। इस प्रकार यह कहानी कवि के अपने अभावों एवं संघर्षों की कहानी वन जाती है जिनमें कवि टूटा है, विखरा है, पर उसकी महाप्राणवत्ता बनी रही है, वह झुका नहीं है। कवि का चरित्र-गुण·········संवेदनशील हृदय·········ही उसके 'स्वार्थ-समरों' में पराजित होने का मुख्य कारण वन जाता है। वह विना पलक झपके, निःशंक, ऐसे समर को तो झेल सकता है, झेलता रहा है, जिसमें—

एक साथ जव शत घात घूर्ण।
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण॥

वह 'भाग्य अंक को खण्डित करने के लिए भविष्य के प्रति भी अशंक भाव से देख' सकता है। परन्तु वह 'विपन्न-दृगों' को नहीं झेल सकता। कवि की यह (गर्वोक्ति नहीं) निश्छल स्वीकारोक्ति है, उसकी आन्तरिक विवशता या दुर्वलता (?) है—

क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न,
अपने आँसुओं अतः विम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।

दीन-हीन के साथ ऐसा निश्छल तादात्म्य, ऐसी सहज अप्रतिम मानवीयता आधुनिक हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। कवि का कृतित्व और उसका सम्पूर्ण जीवन इन पंक्तियों की सच्चाई का प्रमाण है।

(ख) भाव-वैविध्य—कवि की इस करुणाप्लावित महत्त्वपूर्ण आत्म-कथांश (सरोज-स्मृति) में मुख्य स्वर स्वभावतः वात्सल्य का है। पर साथ ही धीरता, विवशता, तिक्तता औद्धत्य, व्यंग्य आदि विविध भावलहरियों से संवलित, तरुण-सुता के निधन से संवद्ध एवं उद्‌वुद्ध स्मृतियाँ हैं, जिनमें पुत्री के रूप एवं यौवन का ऐसा उदात्त चित्रण भी है, जो उन्मुक्तता एवं गरिमा की दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में वेजोड़ हैं। पुत्री के लिए प्रयुक्त सम्वोधनों में अवाव आत्मीयता के साथ-साथ पवित्रता, गरिमा, निर्मलता एवं कोमलता

की उत्कृष्ट व्यंजना है। साथ ही विवाह से पूर्व एवं विवाह के समय का पुत्री का ऐसा रूप चित्रण है, जिसमें ऊष्मा एव निःसंगता तथा लालित्य एवं औदात्य का अद्भुत मिश्रण है। विवाह के समय मंगल-कलश के जल से स्नात पुत्री के बारे में कवि लिखता है—

देखा मैंने, वह मूर्ति-धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति—
शृंगार, रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्‌वसित-धार
गाया स्वर्गीया प्रिया संग
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही
आकाश बदल कर बना मही।

स्वर्गीया प्रिया संग गाये राग रंग का और निराकार उच्छ्‌वसित-धार शृंगार रस का, साकार हो कर 'रतिरूप' प्राप्त करना या 'आकाश का बदल कर पृथ्वी बनना, आदि ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिन्हें आत्मजा (पुत्री) के सन्दर्भ में कोई महाप्राण व्यक्ति ही लिख सकता है। इन पंक्तियों से यह भी स्पष्ट है कि कवि की सारी कोमल, पवित्र एवं उदात्त भावनाओं का 'सम्बल' एकमात्र सरोज रह गई थी। उसके सहारे कवि सब प्रकार के दुःख बिना पलक झपके झेल रहा था। अतः उसके निधन से कवि को सभी प्रकार के अभावों की कटु स्मृतियों ने पुनः एक साथ घेर लिया। पुत्री के निधन का चित्रण करने तक पहुँचते-पहुँचते कवि की लेखनी शिथिल हो जाती है। और यहीं झटके से कविता समाप्त हो जाती है। पाठक देर तक विगलित और स्तब्ध बना रहता है। कविता में कथ्य इतना मार्मिक और साथ बहा ले जाने वाला है कि पाठक का कथन-भंगिमा की अपूर्वता की ओर ध्यान ही नहीं जाता। यह अपने में कविता की उत्कृष्टता का द्योतक है। फिर भी आचार्य वाजपेयी के शब्दों में भाव-समन्विति के अनुरूप 'विविध स्तरों की भाषा का जैसा समन्वय 'सरोज-स्मृति' में प्राप्त होता है, हिन्दी काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

(ग) अप्रतिम मानवीय संवेदना—डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार इस कविता में निराला ने चार पंक्तियाँ ऐसी सच्ची लिखी हैं जिनमें उनका

---

1 वाजपेयी, नन्ददुलारे, कवि निराला, पृष्ठ १०९, वाराणसी,—१९६५।

सारा जीवन केन्द्रित हो गया है। उनका स्वरूप उद्धत और उत्साही वीर का है, जो दारुण मार्ग में नियति को भी चुनौती देता है—

खण्डित करने को भाग्य अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक।

....दूसरी ओर उसके कृतित्व में जीवन की अनकही कथा अपने-आप फूट निकलती है—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।'

डॉ० शर्मा द्वारा निर्दिष्ट ये पंक्तियाँ निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य वरिष्ठ आलोचकों ने भी इन पंक्तियों की महत्ता का उल्लेख किया है। परन्तु उदात्त की दृष्टि से इन चार पंक्तियों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वे चार पंक्तियाँ हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।[1] डॉ० शर्मा द्वारा उद्धृत पक्तियों में निराला की प्रकृत-वीरता एवं नियति-प्रदत्त करुण-स्थिति की मार्मिक अभिव्यक्ति है। परन्तु निराला का औदात्य उनकी उस अप्रतिम मानवीय संवेदना में है जिसके फलस्वरूप वे किसी भी 'विपन्न' में 'अपने आँसुओं विम्बित, अपने ही मुखचित' देखते हैं। निराला के वीरत्व की शोभा एवं करुणा की गरिमा इसी मानवीयता के सन्दर्भ में उदात्त स्तर को प्राप्त करती है। । निराला के सम्पूर्ण साहित्य का प्रेरक भाव यही है। ओज और करुणा इसी से निःसृत है और इसी को पुष्ट करते है। निराला-काव्य की यह विशेषता उतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसकी उपेक्षा, निराला की अनेकों उत्कृष्ट रचनाओं की 'वक्रान्विति', को 'अबूझ' बना देती है।

४. जुही की कली और चित्त की उन्मुक्तता

निराला की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली[2]' में यही प्रेम नरनारी के चिरन्तन स्वस्थ मांसल सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में प्रकट हुआ है। रीतिकालीन, रूढ़िवद्ध, क्षुद्र-दृष्टि जन्य-विलासिता तथा द्विवेदी युगीन, 'शुद्धिवादी', संकीर्ण-दृष्टिजन्य श्रृंगार-वहिष्कृति 'के पश्चात् मुक्त छन्द में

---

१ क्षीण का न छीना कभी अन्न
मैं लख न सका वे दृग विपन्न
अपने आंसुओं अतः विम्बित
देखे हैं, अपने ही मुख-चित।

२ निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, परिमल।

उन्मुक्त प्रेम की यह अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहासमें एक महत्त्व-पूर्ण घटना है और मानव-मुक्ति के अभियान का ही अंग है। यह चित्रण इतना सहज, सजीव, खुला एवं विस्मित करने वाला है कि छायावाद के प्रशंसक भी वर्षों तक इस कविता का ब्रह्म एवं जीवपरक अर्थ लगाते रहे हैं। कविता में उपेक्षित तथ्य की उत्कर्षक अभिव्यक्ति है, जोकि प्रातिभ-रचना का सहज गुण है। निराला की इसी श्रेणी की अन्य रचनाएं भी हैं, जो सब स्थानों पर इसी स्तर की नहीं हैं, परन्तु इनमें निराला की स्वस्थ प्रकृत देह-दृष्टि की अभिव्यक्ति अवश्य है, जो छायावादी काव्य की बहु-प्रचारित 'अमूर्तता' पर प्रश्न चिह्न है।

'निराला जी का शृंगार सर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृंगार वर्णन करते हुए भी निराला जी का व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं देख पड़ता। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती।'

५. **निराला काव्य में सोल्लास आत्मोत्सर्ग**—निराला की यह प्रेम भावना, देह को सहज भाव से स्वीकारते हुए भी, देह तक ही सीमित नहीं अपितु निःसीम भूपर उमड़ने वाले प्रेम-पयोनिधि की ही एक उत्ताल तरंग है, जिसमें सब प्रकार के क्षुद्र मनोवेगों को तृणसम बहा ले जाने की क्षमता है।[1] निराला का यह प्रेम कभी शोषकों के प्रति व्यंग्य में प्रकट हुआ है, कभी शोषितों के प्रति करुणा में और कभी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह एवं क्रान्ति के गान में।

निराला का राष्ट्र-प्रेम भी इसी उन्मुक्त प्रेम का ही एक अंग है। तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में यह प्रेम एक साथ साहित्यिक संकीर्णता, सामाजिक रूढ़िवादिता एवं विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ है। मानव मात्र की मुक्ति के उद्घोषक को स्वदेशवासियों की परतन्त्रता कैसे सह्य हो सकती थी। अतः निराला का उन्मुक्त उत्कर्षक प्रेम एक ओर भारत के सांस्कृतिक वैभव का गौरव गान करने में अभिव्यक्त हुआ, दूसरी

---

१ प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है,
सदा ही निःसीम भूपर
प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र ठाठ
जिससे संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृन सम बह जाते हैं ॥—परिमल, (निराला)

ओर भारतवासियों को जगाने वाले उद्बोधन-गान में और तीसरी ओर 'जीर्ण-शीर्ण प्राचीन को जला कर नवीनता का प्रकाश फैलाने"[१] की प्रार्थना में। निराला की ऐसी रचनाओं में प्रेम के साथ ही वीरता को भी समान अभिव्यक्ति मिली है। यह उचित भी है, क्योंकि उत्कृष्ट स्तर पर दोनों का अर्थ आत्मोत्सर्ग है, जिसके अभाव में स्वातन्त्र्य एवं सम्मान का जीवन जी सकना असम्भव है। **'परिमल' को 'जागो फिर एक बार'** शीर्षक रचना के दो भागों में इसी तथ्य का चरितार्थन है।

प्रेम और वीरता, राग और ओज......अथवा सोल्लास आत्मोत्सर्ग—का निराला की रचनाओं (विशेषतः 'परिमल' और 'अनामिका') में इतना प्रचुर एवं उत्कृष्ट चित्रण है कि निराला काव्य इन्हीं का पर्याय-सा माना जाता है। इस दृष्टि से **'बादल-राग'**[२] शीर्षक छः रचनाएँ सम्पूर्ण हिन्दी काव्य में अपना अपूर्व महत्त्व रखती हैं। कुछ विद्वान् भाव संवेदन एवं मार्मिकता की दृष्टि से इन रचनाओं को 'राम की शक्ति पूजा' आदि रचनाओं से भी अधिक महत्त्व देते हैं।[3] इन रचनाओं में चित्रित 'बादल' अबाध शक्ति, उद्दाम स्वातन्त्र्य, निःशेष दानशीलता एवं क्रान्ति-दौत्य आदि उदात्त भावनाओं का प्रतीक है। वह बधिर विश्व के कानों में 'एक ही राग—अनुराग' भरने के आग्रही 'मुक्त शिशु' के रूप में चित्रित है। इस लड़ी की छठी कविता कवि की प्रगतिशील दृष्टि एवं उदात्त स्वर-सौन्दर्य के लिए अत्यन्त विख्यात हैं।[४]

बादलों के अतिरिक्त निराला को प्रकृति के अन्य ऐसे रूप ही प्रिय है, जिन में गरिमा, दीप्ति, उद्दाम प्रवाह एवं आत्मोत्सर्ग द्योतित है। 'सन्ध्या-सुन्दरी', 'धारा' और 'प्रपात के प्रति'[५] आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन रचनाओं के माध्यम से 'जितना प्रसन्न अथच अस्खलित व्यक्तित्व निराला जी का है, उतना न प्रसाद जी का है न पन्त जी का।'[६]

---

१ अनामिका, उद्बोधन शीर्षक कविता, पृष्ठ ६७–६८, इलाहाबाद, सं० २००५।

२ परिमल, पृष्ठ १७५–८८, लखनऊ, सं० २००५।

३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, कवि निराला, पृष्ठ ४६, वाराणसी, १९६५।

४ शर्मा, रामविलास, निराला, पृष्ठ ४८।

५ परिमल, पृष्ठ (क्रमशः) १३, १४७, ४६, तथा १६७–६८, लखनऊ, सं० २००५।

६ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० १४१,
—इलाहाबाद —१९६६।

६. **परवर्ती-काव्य**—निराला के परवर्ती-काव्य में प्रेम और वीरता या सोल्लास आत्मोत्सर्ग की अपेक्षा व्यंग्य, तिक्तता, आर्त हृदय का क्षीण होता हुआ चीत्कार एवं विरक्ति-भावना का आधिक्य है। मानव-प्रेम इन रचनाओं में भी अक्षुण्ण है, परन्तु चिन्तन विकेन्द्रित हो गया है। किसी भी सिद्धान्त मत या वाद आदि पर कवि का विश्वास नहीं रहा। कवि प्रचलित वादों की सीमाओं से टकराता है, पर कहीं भी उल्लास और उत्साह से इनका अतिक्रमण नहीं कर पाता। उसमें एक थकावट और खीज का सा भाव प्रधान हो गया है। उसे अपने पर भी, जैसे विश्वास नहीं रहा। कभी-कभी तो वह अपने ही पूर्ववर्ती काव्य पर व्यंग्य करता प्रतीत होता है। आलोचकों ने इस काल की रचनाओं को 'प्रयोग' 'प्रगति' एवं 'भक्ति' से सम्बद्ध माना है। पर वास्तव में यह बिखराव का काव्य है। इसीलिए तीनों ही प्रकार की रचनाओं में आस्था का अपेक्षाकृत अभाव है। निराला, इन दिनों निरन्तर अधिकाधिक टूटते गए हैं। इसके वैयक्तिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक कई कारण हो सकते हैं।[1] पर इतना स्पष्ट है कि इस काल की रचनाएं सब जगह या सब समय, स्वस्थ एवं अतिक्रामी चित की उपज नहीं हैं। इसीलिए इन रचनाओं का व्यंग्य वैयक्तिक एवं अतिरिक्त तिक्तता लिए हुए है। इन व्यंग्य कृतियों में कबीर की सी निर्मल-चित्तता या निराला की ही पूर्ववर्ती रचनाओं की उच्छल आस्था नहीं है। इस काल की तथाकथित 'भक्ति' की रचनाओं में भी आराध्य के माहात्म्य, उसके प्रति निश्छल या उत्कट आत्म निवेदन अथवा उसमें गहरी आस्था की अपेक्षा, स्थिति की कटुता से बचने की कामना ही अधिक प्रकट हुई है। इसीलिए इस काल की रचनाओं का प्रभाव अभिभूति एवं उत्कर्षण का नहीं है। इनमें 'हिन्दी की भक्ति युगीन भावधारा की निकटता या समता'[2] देखना असंगत है। अधिक से अधिक यहाँ रूपसाम्य है, भाव या अनुभूति साम्य नहीं।

सुमित्रानन्दन पन्त

श्री पन्त जी आधुनिक हिन्दी काव्य के एक अतीव प्रतिष्ठित एवं पुरस्कृत कवि हैं। एक 'सचेत' कलाकार होने के नाते पन्त-काव्य का कलापक्ष अत्यन्त

---

१ (क) वर्मा, धनंजय, निराला, काव्य और व्यक्तित्व, पृ० १३६, दिल्ली —१९६५।
(ख) शर्मा रामविलास, निराला, पृ० १५४, आगरा, —१९६२।

२ वर्मा धनंजय, निराला, काव्य और व्यक्तित्व, पृष्ठ १२८।

समृद्ध है। इसी 'सचेतता' के फलस्वरूप इन्होंने अपने काव्य के प्रतिपाद्य से (क्रमशः) कल्पना एवं प्रकृति प्रेम के आतिशय्य का परित्याग कर, 'मानव' की महिमा और सुख-दुख के मधुर-मिलन का गुण-गान किया, पुनः मानवतावादी 'मानव' की अपूर्णता एवं वायवीयता को हटाने के लिए 'ग्राम्य' विषय चुने तथा शोषित एवं दलित के गान गाए और 'अपूर्ण' मार्क्सवाद को गाँधीवाद का पुट देकर पूर्ण बनाने का प्रयास किया, तथा अपने (परवर्ती) 'उत्तर' काव्य में सभी की सीमाओं का परित्याग कर ऊर्ध्वदिक् एवं 'समदिक्' विकास के समर्थक अरविन्द-दर्शन की शरण ली। इस प्रकार प्रतीत होता है, पन्त जी निरन्तर आदर्शाभिमुख रहे हैं जीवन की पूर्णतम मूर्ति-रचना' के आकांक्षी रहे हैं। पन्त जी की यह 'सचेतता' उदात्तानुकूल प्रतीत होती है। परन्तु 'आकांक्षा' एवं 'उपलब्धि' भिन्न स्थितियाँ हैं। प्रातीत्य एवं यथार्थ सदा एक नहीं होते। सम्भवतः इसीलिए पन्त जी की उपलब्धि, 'कृतित्व', या पन्त काव्य, की महत्ता निर्विवाद नहीं है।

एक ओर पन्त जी को छायावादी काव्य के प्रतिनिधि एवं लोक-प्रिय नेता होने का श्रेय प्राप्त है, तो दूसरी ओर इनकी कविता में 'शब्द मोह', 'चित्रमोह' 'नाद-मोह' एवं कल्पना का अपव्यय आदि की भरमार देखी जाती है, एक ओर इन्हें दलित और शोषक वर्ग के पक्षधर, प्रगति काव्य' के उन्नायकों में गिना जाता है, तो दूसरी ओर इनके काव्य में सर्वहारा के लिए मात्र बौद्धिक सहानुभूति देखी जाती है, और एक ओर यदि इन्हें 'चेतना काव्य' या 'शान्तोदात्त'[1] के लगभग एक मात्र रचयिता होने का गौरव दिया जाता है, तो दूसरी ओर इनके इस काव्य के प्रतिपाद्य को आरोपित एवं जड़ तथा प्रतिपादन-भंगिमा को अयथार्थ' कृत्रिम एवं अक्षम कहा जाता है।[2] वास्तविकता, सम्भवतः, इन दोनों अतिवादों के मध्य में कहीं है।

---

१ (क) द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) पृष्ठ ४६६, दिल्ली—१६५२।

(ख) वात्स्यायन, सच्चिदानन्द, हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ ६५, —दिल्ली—१६६७।

२ वर्मा लक्ष्मीकान्त, कल्पना, जून —१६६५।

पन्त जी उन कतिपय सौभाग्यशाली व्यक्तियों में हैं जिन्हें कवि-जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही ख्याति एवं 'सफलता' मिल जाती है।[1] जहाँ छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद, सलज्ज अस्पष्टता....एव अतीत की महिमा से अभिभूत होने के कारण क्लिष्ट समझे जाते थे, और निराला उद्दाम एवं निर्वन्ध भावनाओं को निर्बाध और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति देने के कारण अस्पष्ट एवं क्लिष्ट समझे जाते थे, वहाँ पन्त जी की कविताओं में अभिव्यक्ति पाने वाली बाल-सुलभ उत्सुकता, विस्मय-भावना, मुग्ध-कोमलता एवं सचेत रूप-सज्जा नई रुचि के सहृदयों के लिए अपेक्षाकृत सहज-संवेद्य थी। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'छायावाद का महान् आन्दोलन पन्त के समान नेता पाने के कारण ही तेज़ी से लोकप्रिय हो गया।[2] इस दृष्टि से पन्त जी के छायावादी काव्य की महत्ता निर्विवाद है।

स्वयं पन्त जी को बाल-सुलभ विस्मय, कौतूहल एवं उत्सुकता आदि में अधिक समय सन्तोष नहीं मिला, और वे युगीन विचारों एवं सिद्धान्तों के संपर्क में आने लगे। 'गुंजन' में ही पन्त जी ने 'मानव' के गुणगान एवं सुख-दुःख के समन्वय को आदर्श बना लिया था। इसके पश्चात् तो इन्हें विचारों ने--और 'पूर्णता' प्राप्ति की ललक ने—इतना अभिभूत कर लिया कि बार-बार इन्हें अपनी ही पूर्वस्थिति का प्रत्याख्यान करना पड़ा। 'प्रगति' के दिनों में इन्होंने छायादार का प्रत्याख्यान किया और 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' एवं 'उत्तरा' में प्रगति-पन्थिता का प्रत्याख्यान किया। तब इन्हें 'अरविन्द-दर्शन' में जीवन की चरितार्थता प्रतीत होने लगी। आजकल वे अरविन्द-दर्शन के प्रभाव को भी उतना महत्त्व नहीं देते। उनका कथन है--'विकासवाद के सिद्धान्त को छोड़ कर.............श्री अरविन्द-दर्शन केवल भारतीय औपनिषिदिक चैतन्य का ही युग अनुरूप दार्शनिक मूल्यांकन है, जिसका स्वतन्त्र-बोध मुझे 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' काल ही में हो चुका था।"[3] इसी सन्दर्भ में पन्त जी आगे कहते हैं—"मेरी रचना-दृष्टि में जो मोड़ आया वह

---

१ १९२० में ही पन्त ने होस्टल के एक कवि-सम्मेलन में अपनी कविता 'छाया' पढ़ी थी। सभापति हरिऔध जी ने खुश होकर माला उनके गले में डाल दी।—'सुमित्रानन्दन पन्त—काव्यकला और जीवनदर्शन' पृ० ४२ —दिल्ली १९५१ (संपा० शचीरानी गुर्टू)।

२ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) पृष्ठ ४६६, —दिल्ली—१९५२।

३ पन्त, सुमित्रानन्दन, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ७६, इलाहाबाद —१९६५

उनके (श्री अरविन्द के) दर्शन के प्रभाव से कम, किन्तु अपने मन: संकट से मुक्ति के कारण अधिक, मुझसे सम्भव हो सका। किन्तु जो श्री अरविन्द की मूलभूत दर्शन-दृष्टि है उससे मेरा जीवन-दर्शन एकदम ही दूसरे छोर पर मेरे मनोगत संस्कारों तथा आत्मगत जीवन-स्वतन्त्र अनुभूतियों के कारण है।'[1] इस प्रकार पन्त जी अपने चेतना काव्य के स्वतन्त्र-विकास का उद्घोष करने लगे हैं। इतना ही नहीं, छायावादी कवि-चतुष्टय के सन्दर्भ में तो वह अपना स्थान शीर्षस्थ मानने लगे हैं क्योंकि अन्य तीन कवियों की देन, पन्त जी के अनुसार जहाँ एकांगी है, वहाँ उनकी अपनी देन 'सर्वांगीण' एवं 'पूर्णतम' है। वह लिखते हैं—'जहाँ प्रसाद जी ने मुख्यत: सांस्कृतिक नए मूल्य के ज्ञानपथ (Cognition) को वाणी देने का प्रयास किया है, वहाँ निराला जी ने शक्ति संकल्प पक्ष (Volition) को और महादेवी ने उसके रागात्मक पक्ष (इमोशन) को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। और मैंने नए मूल्य के चैतन्य (स्पिरिट) का पक्ष उद्घाटन कर, उसमें उपर्युक्त तीनों पक्षों को संयोजित करने का प्रयत्न किया है।'[2]

पन्त जी का अपने सम्बन्ध में यह अभिमत पर्याप्त रोचक है और उनकी 'सचेतता' को पुष्ट करता है। परन्तु 'सचेतता' व्यक्ति को दोषों से बचने या न्यूनताओं से अवगत कराने में सहायक होकर भी प्रतिभा का स्थानापन्न या पर्याय नहीं होती। अत: पन्त जी की 'सचेतता' या उनके अपने कृतित्व पर अपने ही अभिमतों की अपेक्षा उनके काव्यगत औदात्य का उनकी रचनाओं के माध्यम से अध्ययन अधिक संगत है।

पन्त काव्य को विकासक्रम की दृष्टि से तीन भागों में रखा जा सकता है—

(क) छायावादी काव्य।

(ख) प्रगतिवादी काव्य।

(ग) चेतनावादी काव्य।

(क) पन्त का छायावादी काव्य 'सुन्दर' की उपासना का काव्य है। इसमें प्रकृति-प्रेम, कोमल सुकुमार कल्पना, भावुकता, विस्मय एवं उत्सुकता आदि का आतिशय्य है। भाषा के माधुर्य एवं स्वच्छता की दृष्टि से पन्त जी

---

१ वही०, पृष्ठ ८१–८२।

२ पन्त, सुमित्रानन्दन छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ९६–९७, इलाहाबाद —१९६५।

की इस काल की रचनाएं निःसन्देह प्रसाद एवं निराला की रचनाओं से अधिक आकर्षक हैं। यह उपलब्धि कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पन्त जी का विख्यात शब्द-शिल्प, उनके छायावादी काव्य की ही देन है। यही इन्हें आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।

पन्त जी के इस काल के काव्य का 'मेरुदण्ड कल्पना है'।[1] यही पन्त जी के छायावादी काव्य की शक्ति एवं सीमा है। जहाँ-जहाँ यह अनुभूति से अन्वित है, कथ्य की सहायक या पोषक है वहाँ-वहाँ कविता सफल, सार्थक एवं प्रभावशाली हो गई है। परन्तु जहाँ कल्पना के अतिरेक में भावान्विति की उपेक्षा की गई है, वहाँ उत्कृष्ट प्रभाव की अपेक्षा बिखरे असम्बद्ध चित्रों की प्रदर्शनी थोड़ा चकित (?) करके ही रह जाती है। स्थायी या उत्कट प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ० नगेन्द्र ने इसका कारण सामान्यतः "पन्त के काव्य में प्राण-रस की क्षीणता"[2] बताया है।

अनुभूति, चिन्तन एवं कल्पना की अन्विति का उत्कृष्ट उदाहरण पन्त जी की इस काल की 'परिवर्तन'[3] शीर्षक कविता है। इस रचना की सभी प्रमुख आलोचकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।[4] स्वयं पन्त जी के अनुसार—'मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के **हृदय-मन्थन** तथा **बौद्धिक-संघर्ष** की विशाल दर्पण सी बन गई है।[5] कविता प्रतिपाद्य परिवर्तन की क्रूरता, निष्ठुरता, दुर्दमनीयता एवं अनिवार्यता का चित्रण है। इसमें जीवन की क्षणभंगुरता और जगत् की असारता बड़े ही सशक्त एवं स्तब्ध कर देने वाले बिम्बों में प्रकट हुई है। प्रथम पद्य से ही (कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल।........) स्मृति एवं शोक के चित्रों को प्रस्तुत करता हुआ कवि जगत् की अचिरता पर 'समुद्र के सिसकने' एवं 'उडुगणों के सिहरने' को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। छठे पद्य से दसवें पद्य तक कवि 'परिवर्तन' के 'ताण्डव नर्तन' का लोमहर्षक चित्र प्रस्तुत करता है। ग्यारहवें से अठारहवें पद्य तक पुनः परिवर्तन के क्रूरता-जन्य शोक का प्राधान्य है।

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १५०, —इलाहाबाद—१९६६।

२ नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृष्ठ ४०३, दिल्ली—१९६८।

३ पल्लव, पृष्ठ ६५–११२, प्रयाग वि० २००५।

४ सक्सेना, द्वारिकाप्रसाद, हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ० ३४३, —आगरा—१९६८।

५ पन्त, सुमित्रानन्दन, रश्मिबन्ध, (परिदर्शन, पृष्ठ ११) दिल्ली—१९६४।

उन्नीसवें पद्य से अठाइसवें पद्य तक परिवर्तन के घन-पक्ष का, उसकी प्रसन्न-चित्त-स्वीकृति का, आग्रह है। अन्तिम चार पद्यों में परिवर्तन की, भव्यता' और 'भयंकरता' से ऊपर अनिर्वचनीयता की स्थिति का और मनुष्य मिथ्या अहंकार का विनत स्वीकार है।

'परिवर्तन' कविता का अन्तिम प्रभाव निराशा-वादिता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में "स्थिति को देखने की और वास्तविकता को सहन करने की शक्ति का उसमें आह्वान है। निराशामूलक होते हुए भी इस रचना में एक औदात्य और तटस्थता है। अवश्यंभावी 'परिवर्तन' के चिर चक्र में पड़ा हुआ क्षुद्र मनुष्य अपने सुख-दुःख पर क्या आस्था करे?........'परिवर्तन में मानवीय सुख-दुःख का यही निराकरण, जीवन का यही आश्वासन हमें प्राप्त होता है। 'साधना ही जीवन का सार।' परिवर्तन की विधायक पंक्ति कही जा सकती है।"[1]

इस कविता में प्रयुक्त भाषा, अलंकार-योजना एवं छन्द-विधान सभी उत्कृष्ट कोटि के है। कोमल और परुष, दोनों प्रकार के शब्द प्रयोग से निर्मित भाषा भावानुरूप कहीं स्वच्छ निर्मल, प्रसादमयी है और कहीं दुर्दम आवेग-मयी, ओजस्विनी।

(i) **प्रसादमयी**—

'आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार, अज्ञात।'

अथवा

'एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजय वन।
—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार।'

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी, पृष्ठ १५६,
—इलाहाबाद—१९६६।

(नोटः— कविता में श्री वाजपेयी जी द्वारा उद्धृत पंक्ति के अन्त में 'सार' के स्थान पर 'मोल' शब्द का प्रयोग है :—

अलम है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल।)

इस प्रकार कथ्य एवं कथन भंगिमा दोनों दृष्टियों से पन्त जी की यह कविता उत्कृष्ट रचना है। 'परिवर्तन' की क्रूरता एवं कटुता का सशक्त चित्रण करके भी कवि का जीवन-स्वीकृति के माधुर्य में विश्वास अक्षुण्ण है। यह उदात्त के अनुरूप है।

'परिवर्तन' कविता के विपरीत 'छाया'[1] में अनुभूति की क्षीणता एवं भावान्विति की उपेक्षा है, तथा भावुकता एवं कल्पना का आधिक्य है। कवि के सम्मुख कोई विशेष कथ्य नहीं है। छाया का भावुकतापूर्ण चित्रण करते हुए वह असम्बद्ध उपमानों की झड़ी लगा देता है। इस पर कुछ 'भावुक विद्वान्' मुग्ध हो उठते हैं। पर एक ही सांस में 'रतिश्रान्ता व्रजवनिता सी' 'विरह मलिन, दुख विधुरा सी,' 'गूढ़ कल्पना सी कवियों की,' 'अज्ञाता के विस्मय सी,' 'ऋषियों के गम्भीर हृदय सी,' 'मौन अश्रुओं के अंचल सी,' 'गहन गर्त मे समतल सी,' 'उपमा सी' 'पछतावे की परछाई सी' 'दुर्बलता सी' और 'मदिरा की मादकता सी' आदि चित्र प्रस्तुत करना अव्यवस्थित अस्पष्ट—'चिन्तन' (?) या कथ्य हीनता को ही द्योतित करता है। इन उपमानों में कवि का कौशल तो प्रकट हुआ कहा जा सकता है, पर कवित्व नहीं है।

'पल्लव' की अन्य रचनाओं में एकाध चित्र या दो-एक पद्य स्वतन्त्र रूप से बड़े सुन्दर है, पर कोई भी कविता पूर्णता में उत्कृष्ट कविता नहीं कही जा सकती। 'याचना'[2] कविता मे उदात्तोन्मुख प्रार्थना है। यहाँ कथ्य अच्छा है, पर वह अभिभूत करने वाले स्तर पर प्रकट नहीं हुआ।

इसी काल की अन्य प्रमुख रचनाओं में 'गुंजन' में संकलित 'एकतारा' और 'नौका-विहार' शीर्षक रचनाएं हैं। 'एकतारा'[3] कविता में न भावुकता का अतिरेक है और न कल्पना का अतिव्यय (या अपव्यय)। कहीं एक दो विशेषण, कहीं एक उत्प्रेक्षा या कहीं एक उपमा के सहारे साँझ की 'नीरवता', 'प्रशांति' और एकाकीपन की तीव्रता को मूर्तिमान कर दिया गया है। 'जिस वातावरण को पन्त जी ने इस कविता में "पत्रों के आनत अधरों पर, सो गया निखिल वन का मर्मर" जैसी एक पंक्ति में बांध दिया (है), उसी को पल्लव में

---

१ वही०, पृष्ठ १०७–११२।

२ पल्लव, पृष्ठ १४५, दिल्ली—१९६३।

३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० १६०, —इलाहाबाद—१९६६।

संभवतः चार-छः उपमा के विना न कहते ।'[1] तरुशिखरों से उड़ कर 'स्वर्ण-विहग' का किसी अज्ञात गुहा-नीड़ में छिपना और वन में श्यामलतम का छा जाना, नित्यप्रति की घटनाएं होकर भी कवि के वर्णन-कौशल के फलस्वरूप पाठक को विस्मित, एव एकाकीपन के वांध को गहरा वना जाती है । फिर अकेलेपन के 'अन्धकार' और 'मूक भार' की 'अपारता' का चित्रण है । अन्तिम पंक्तियों में नभ के आंगन का कुन्द कलियों से लद जाना, जगमग-जगमग कर उठना, पाठक को अन्धकार के मूक भार से मुक्त कर देता है । उसका चित्त प्रसन्न एवं उल्लसित हो उठता है । कुछ विद्वानों को कविता का अन्तिम अंश विचार-वोझिल लगता है, पर यह बात 'नौका-विहार'[2] कविता के बारे में अधिक सच है । इसमें चाँदनी रात में नौका-विहार का चित्रण है । प्रारम्भ से ही कविता में प्रफुल्लता एवं माधुर्य का वातावरण है । पर पन्त जी ने—

'ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार ।'

पंक्ति का सहारा लेकर कविता के अन्त में 'शाश्वत जीवन-दर्शन' को नत्थी कर दिया है । पन्त जी के 'शत-विचार' कथ्य की सामान्य प्रकृति से मेल नहीं खाते । अतएव आचार्य वाजपेयी का, प्रस्तुत सन्दर्भ में यह कथन युक्ति संगत है— 'कल्पना का यह दार्शनिक निष्कर्ष इतना वोझीला हो गया है कि कविता उसका भार नहीं सँभाल सकती—

'इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम ।
............................इत्यादि ।

विना इस निष्कर्ष के कविता अधिक सफल होती ।'[3]

'गुँजन' की अन्य कविताओं में 'सुख-दुःख के मधुर-मिलन', जीवन के गुणगान और 'मानव के सब से सुन्दरतम' (?) होने का यशोगान है । यह संभवतः उन दिनों हिन्दी समीक्षकों के 'जीवन-जीवन' की आवाज लगाने'[4]

---

१ वही०, पृष्ठ १५६ ।
२ वही०, पृष्ठ १६० ।
३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य, वीसवीं शताब्दी, पृ० १६०, —इलाहावाद—१९६६ ।
४ वही०, पृष्ठ १५६ ।

का परिणाम है। यहाँ से पन्त जी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता वढ़ती गई है।'[1]

(ख) 'प्रगति काव्य' से पन्त जी कल्पना-जगत् का परित्याग कर विचारों के क्षेत्र में आ जाते हैं। पन्त जी के अपने शब्दों में—

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर
यहाँ न मधु-विहगों में गुंजन
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन ॥[2]

पर दुर्भाग्यवश वह अपने प्रगति काव्य में 'हृदय के रोदन' को 'जीवन के संगीत' में नहीं ढाल सके।' इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। (ग्राम्या के 'निवेदन' से)। अतएव इस काल की रचनाओं में ग्रामीणों एवं ग्राम समस्याओं का बाह्य-निरूपण है। कवि सामूहिक विकास के लिये मार्क्सवाद का गुणगान करता है और वैयक्तिक-विकास के लिए गाँधीवाद का समर्थन करता है। इस काल की रचनाओं में अधिक स्थलों पर काव्य के नाम पर वर्णन एवं वक्तव्य हैं, परन्तु छायावादी काव्य की विशेषतः प्रवाह में बहने वाले कवियों की रचनाओं में प्राप्य, अतिव्ययी भावुकता एवं अपव्ययी कल्पना-उड़ान से ऊबे हुए हिन्दी जगत् ने इन रचनाओं का स्वागत किया। पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"आश्चर्य तो यह है कि अपने इस अकाव्यत्व का ज्ञान स्वयं पन्त जी को तो था, पर उनके किसी भी प्रशंसक या समीक्षक को नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान सभी इस भयंकर दुर्घटना में ग्रस्त हो गए।"[3] इस काव्य में जहाँ-जहाँ किंचित् आवेग या भाव की ऊष्मा अथवा आक्रोश है, वहाँ-वहाँ कवित्व-गुण अवश्य आगया है। ऐसी रचनाओं में 'नवदृष्टि'[4] 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र'[5]

---

१ वही०, पृष्ठ १६०।

२ चिदम्बरा (ग्राम्या)। पृष्ठ ६५, दिल्ली—१६५६।

३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, (भूमिका) पृष्ठ ३२, —इलाहाबाद, वि० २००७।

४ युगवाणी, पृष्ठ २१, दिल्ली—१६५६।

५ युगपथ, पृष्ठ ११, प्रयाग वि० २००६।

'गा कोकिल बरसा पावक कण'[1] एवं 'ताज'[2] आदि का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रसंग में ग्राम्या 'की ग्रामयुवती'[3] 'भारत माता'[4] एवं 'वाणी'[5] आदि एक दो अन्य रचनाओं का भी नाम लिया जा सकता है। ये सामान्यतः अच्छी रचनाएं हैं इनमें कहीं नवीन का आह्वान है, कहीं 'निष्प्राण 'विगत युग-पर आक्रोश है, और कहीं सुन्दर की उपासना में किए जा रहे 'जीवन के अपमान' पर क्षोभ प्रकट किया गया है। पर ये उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं नहीं हैं। न इनमें अभिभूति क्षमता है न उत्कर्पण और न ज्ञात का अतिक्रमण। यहाँ काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है। छन्दों में अधिक खराद और कारीगरी दिखाई देती है। कल्पनाओं में अधिक परिश्रम का आभास मिलता है। काव्य की अपेक्षा पन्त जी ने इन्हें गद्य–गीत की उपाधि दी है। काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है।"[6]

मात्र-कला की दृष्टि से इन रचनाओं में नवीनता है। यहाँ भाषा सहज, सरल एवं अनलंकृत है। कुछ 'वस्तु–चित्र' एवं 'ध्वनि-चित्र' यथार्थ को रूपायित करने में सफल हुए हैं। पर प्राणतत्व के अभाव में वैयक्तिक या सामूहिक चेतना को आन्दोलित या चालित करने की शक्ति इन रचनाओं में नहीं है। अतः इस काल की रचनाएं उदात्त की परिधि में नहीं आतीं।

(ग) पन्त जी का 'चेतना काव्य' परिमाण की दृष्टि से उनके कृतित्व का सबसे बड़ा अंश है और गुण की दृष्टि से सब से अधिक विवादास्पद है। एक ओर इन्हें इस काव्य ('चिदम्बरा') पर ज्ञानपीठ ने पुरस्कृत किया है, दूसरी ओर पाठकों ने ही नहीं आलोचकों ने भी इस काव्य को 'काव्याभास' कहा है और उपेक्षा की है।[7] पन्त जी का 'चेतना–काव्य'

---

१ युगपथ, पृष्ठ १२ ।
२ ,, ,, ४६ ।
३ चिदम्बरा ,, ६७, दिल्ली—१९५९
४ वही०, " ७९ ।
५ वही, ,, ६३–६४।
६ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६०, —इलाहाबाद—१९६६ ।
७ (क) दिनकर, रामधारीसिंह, पन्त, प्रसाद, और मैथिलीशरण, पृ० ९८, —पटना—१९५८ ।
(ख) वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृ० ३३, इलाहाबाद वि० २००७ ।

अरविन्द दर्शन से प्रभावित है। डॉ० देवराज के अनुसार 'समय-समय पर मार्क्सवाद, गाँधीवाद तथा अरविन्द दर्शन से प्रभावित होना पन्त के काव्य-कृतित्व की दृष्टि से हितकर नहीं हुआ है।'[१] वास्तव में किसी भी कवि का दर्शन–विशेष से प्रभावित होना या न होना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। असली बात यह है कि वह 'दर्शन' या 'सत्य' (डॉ० देवराज के ही शब्दों में) कवि द्वारा 'आत्मसात्' किया होना चाहिए। जबतक बड़े से बड़ा दर्शन भी कवि द्वारा स्वयमर्जित नहीं होता, कवि एवं कवित्व के लिये बोझ बन जाता है। दुर्भाग्य-वश भी पन्त के साथ यही हुआ है। वैसे पन्त जी आजकल किसी भी दर्शन विशेष का अनुयायी होने से इन्कार करते हैं। वह लिखते हैं—'मैं सर्व प्रथम स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के दर्शन से प्रभावित था पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। मैं गाँधी जी तथा मार्क्स के दर्शनों से प्रभावित हुआ, पर पूर्णतः उन्हें भी नहीं स्वीकार कर सका। मैं भी अरविन्द दर्शन के सम्पर्क में आया, परसंपूर्णतः उसे भी नहीं अपना सका।–इसका कारण यही था कि **मुझे स्वयं ही** 'पल्लव' के बाद **एक स्वतन्त्र व्यापक** अन्त–र्दृष्टि, जीवन, मन तथा आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को निरखने–परखने के लिए मिल गई थी, ––।"[१] **इस स्वतन्त्र व्यापक अन्तर्दृष्टि** के विकसित–रूप में उनका निष्कर्ष है—

> वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन
> भूतवाद को जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन
> औ 'अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरंतन
> जिसमें मूल सृजन विकास के विश्व प्रगति के गोपन।'[२]

सैद्धान्तिक स्तर पर पन्त जी के नूतन काव्य का प्रतिपाद्य है—शरीर, प्राण (मन) और चेतना का पूर्ण विकास, तथा व्यष्टि और समष्टि का (ऊर्ध्व दिक् और समादिक्) विकास। यह प्रतिपाद्य, मौलिक या नया चाहे न हो, शुभ है। परन्तु काव्य की महत्ता मात्र प्रतिपाद्य की महत्ता से ही स्वीकार्य नही हो सकती। जबतक काव्य (या उसके प्रतिपाद्य) का प्रभाव अपनी समग्रता में ऐसा अभिभूत करने वाला न हो, जिससे आत्म-साक्षात्कार, आत्म

---

१ देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृष्ठ १४७–४८, दिल्ली—१९६६।
२ पन्त, सुमित्रानन्दन, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ८१–८२, इलाहाबाद —१९६५।
३ चिदम्बरा, पृष्ठ १६८, दिल्ली—१९५९।

परिष्कार या आत्मोत्कर्ष की अनुभूति होती हो, तबतक रचना उदात्त काव्य नहीं कहला सकती। यहाँ पूरी विनम्रता से यह कहा जा सकता है कि पन्त के चेतना-काव्य में ऐसी रचनाएं नहीं के समान हैं। अधिक स्थानों पर सिद्धान्तवादिता, जड़ प्रतीक एवं कृत्रिम भाषा ने काव्य-गुण का हनन कर दिया है। इस काल के काव्य में एक अन्य ह्रासशील प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, पन्त जी यौन-प्रतीकों का मौके-बेमौके फूहड़ प्रयोग करने लगे हैं। उदाहरण के लिए देश में भयंकर नरसंहार के दिनों 'पुण्य धरा के पुजारियों के प्रतिनिधि' द्वारा महात्मा गाँधी की हत्या पर कवि के मन में न शोक हुआ न क्षोभ। वह 'चेतना के शिखरों से' भारत माता के चिर यौवन पर मुग्ध होकर कहता है—

(i) मंगल कलशों से तेरे वक्षोजों में घन
लहराता नित रहा चेतना का चिरयौवन ।[1]

(ii) स्वर्ण श्रोणि पर शीश धरे सोया विन्ध्याचल ।
गजरदनों से शुभ्र तुम्हारे जघनों में घन
प्राणों का उन्मादन जीवन करता नर्तन ।[2]

पन्त जी इन स्थलों को 'दीप्त लावण्य के स्थल'[3] कहते हैं, और अपने समर्थन में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु किसी भी समस्या पर विचार सन्दर्भ-विशेष में ही हुआ करता है। बुराई यौन प्रतीकों के प्रयोग में नहीं है। इसका सम्बन्ध औचित्य से है। औचित्य की दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियां फूहड़ हैं और पन्त जैसे कवि के गौरव के विपरीत हैं। दुर्भाग्यवश पन्त के चेतना-काव्य में ऐसे अनेकों स्थल हैं।[4]

फिर भी पन्त के चेतनाकाव्य में कतिपय रचनाएं उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ प्रकृति-चित्र हैं, कुछ मनोदशाओं और आत्मवृत्त से सम्बद्ध रचनाएं

---

१ युगपथ, पृष्ठ ७४, प्रयाग, वि० २००६।
२ वही०, पृष्ठ ७५।
३ चिदम्बरा, पृष्ठ २५, दिल्ली —१९५९।
४ डॉ० रामविलास शर्मा, ने अपेक्षाकृत अधिक बल देकर पन्त-काव्य के इस दोष पर विचार किया है। देखिए—शचीरानी गुर्टू द्वारा संपादित—सुमित्रानन्दन पन्त, काव्यकला और जीवन दर्शन, दिल्ली—१९५१।

हैं तथा कुछ प्रार्थनाएं हैं। यथा :— 'हिमाद्रि और समुद्र[१]' मुझे स्वप्न[२] दो', 'वाणी[3] 'ज्योतिभारत'[४] 'सन्देश'[५] एवं 'आत्मिका'[६] आदि।

पन्त जी के प्रशंसक डॉ० नगेन्द्र ने भी 'पन्त के काव्य में जीवन की प्राणवत्ता तथा रक्तमांस का अभाव'[७] स्वीकार किया है। प्राणवत्ता के अभाव में पन्त का कल्पना एवं सौन्दर्य काल का काव्य तो लोकप्रिय हो गया, परन्तु प्राणवत्ता-रहित-विचार या मात्र सिद्धान्त-कथन अग्राह्य उपदेशात्मकता एवं प्रचारवाद है, और प्रचार चाहे आर्यसमाज का हो चाहे मार्क्स का, चाहे गांधी का हो चाहे अरविन्द का, काव्य के उपकरणों से अलंकृत होकर भी, काव्य नहीं कहला सकता। अधिक से अधिक काव्याभास रहता है। पक्षधर पाठक और आलोचक अवश्य ऐसे 'काव्य' की प्रशंसा करते रहते हैं।

पन्त के परवर्ती काव्य में 'कला और बूढ़ा चाँद' शीर्षक कविता-पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। यह कदाचित् पन्त के छायावादोत्तर काव्य में सर्वश्रेष्ठ है।[८] इसमें न केवल कला और शिल्प की नई उद्भावनाएं हैं अपितु प्रेरणा का आवेग भी शिल्प का प्रतिस्पर्धी है। अरविन्द दर्शन से प्रभावित होकर भी यह काव्य नवस्वच्छन्दता का काव्य कहा जा सकता है। यद्यपि इस पुस्तक की अधिकांश कविताएं छन्दमुक्त हैं, परन्तु भावना के आवेग ने इन्हें अपनी ही तरह की लयवत्ता से विभूषित कर दिया है। यहाँ संबोधन में पूर्ववर्ती रचनाओं का (दूरीसूचक) 'रे' और 'अरे' 'ओ' में बदल गया है। यह अपनत्व की ऊष्मा का द्योतक है। यथा :—

(धेनुएं) 'ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो?
वंशी रव

---

१ स्वर्ण-किरण, पृष्ठ ४४–४५, प्रयाग, वि० २०१३।

२ चिदम्बरा, पृष्ठ ५८, दिल्ली—१९५९।

३ वही०, पृष्ठ ६३–६४।

४ वही०, पृष्ठ ११२।

५ वही०, " ३०५–३०९।

६ वही०, " १०३१६–३४७।

७ नगेन्द्र, विचार और विश्लेपण, पृष्ठ १००, दिल्ली—१९५५।

८ देवराज, प्रतिक्रियाएं, पृष्ठ १५१, दिल्ली—१९६६।

वह हालाहल
फन,
और
फूत्कार—
अपने से
मत डरो।[1]

इस संग्रह की एक अन्य उत्कर्षक रचना 'अखंड' शीर्षक है। इसमें चेतना की अखंडता और प्रयोजनातीत आनन्दमयता का प्रभावशाली चित्रण है जो अपने आप में एक उत्कृष्ट मूल्य है—

....
....
मैं मुँह में पानी भर
जल फुहार बरसाऊँगा—
करो तुम मूल्यांकन
गिनो फुहार की बूँदें।

ओ रे सुन्दर,
ओरे मोहन,
मैंने ही तुम्हें,
फूलों को
स्वप्नों को
इन्द्र धनुष को दिया।[2]

इस संग्रह में कतिपय अन्य कविताएं भी इतनी अच्छी हैं कि उन्हें पन्त काव्य की उपलब्धि कहा जा सकता है। इनमें 'बाह्य बोध'[3] नामक कविता की जर्मन विद्वान् लुत्से ने बहुत प्रशंसा की है और उसे पन्त जी की चार-पाँच अमर रहने वाली रचनाओं में स्थान दिया है।[4]

समग्रता में विचार करने पर पन्त जी कवि की अपेक्षा कलाकार अधिक सिद्ध होते हैं। काव्य-भाषा के निर्माण में पन्त का योगदान अन्य छायावादियों

१ कला और बूढ़ा चाँद, पृष्ठ १७३–७५, प्रयाग—१९५९।
२ कला और बूढ़ा चाँद, पृष्ठ १९१–९३, प्रयाग—१९५९।
३ वही०, पृष्ठ १७८।
४ लुत्से, लोठार, साहित्य : विविध सन्दर्भ, पृष्ठ ३९–४१, दिल्ली—१९६८।

से कहीं अधिक है। प्रसाद और निराला जहाँ सांस्कृतिक दाय से अभिभूत थे वहाँ पन्त के आदर्श रोमांटिक कवि शैले और कीट्स आदि थे। ('पल्लव' की भूमिका की 'लिरिकल बेलेड्स' की भूमिका के साथ तुलना की जा सकती है।[1]) पर स्वच्छन्दतावाद की अन्य विशेषताओं के साथ मानवीय गरिमा एवं राष्ट्रीय आदर्शों-आकांक्षाओं की जो आशा पंत जी से हो सकती थी, वह पूरी नहीं हुई।[2] अनुभूति की न्यूनता के कारण पन्त का 'कल्पना-काव्य' मात्र विस्मित करता है और विचार-काव्य थकाता है। जहाँ-जहाँ अनुभूति का स्पर्श है, वहाँ-वहाँ पन्त जी सामान्य कवियों से कहीं ऊचे उठ गए हैं।

महादेवी

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में महादेवी का प्रवेश छायावादी काव्य के पूर्णतः प्रतिष्ठित होने पर हुआ। महादेवी ने मुख्यतः पूर्वान्वेपित क्षेत्र को सजाया, सँवारा और समृद्ध किया। इसमें 'छायावादी युग की काव्य-कला महादेवी में पूर्ण वैभव को'[3] प्राप्त हुई दिखाई देती है। परन्तु दूसरी ओर उन्होंने छायावादी काव्य की एक प्रवृत्ति विशेष-रहस्यभावना—में ही अपने कवित्व को केन्द्रित कर लिया। परिणामस्वरूप प्रतिपाद्य के क्षेत्र में महादेवी का काव्य छायावादी काव्य की व्यापकता से तो वंचित हो गया, पर अपने क्षेत्र में आगे निकल गया। इसीलिए महादेवी को छायावादियों में रहस्यवादी धारा की अग्रगण्य और 'एकमात्र कवयित्री' कहलाने का गौरव मिला।

२. **रहस्य-भावना**—सरल शब्दों में 'रहस्यवाद व्यक्त सृष्टि के पीछे किसी अव्यक्त सत्ता की अनुभूति, जिज्ञासा, आस्था, सम्बन्ध भावना, विरहानुभूति, मिलनाकांक्षा, स्वप्नमिलन, मिलन एवं अनिवर्चनीयता आदि स्थितियों की काव्यगत अभिव्यक्ति का अभिधान है। महादेवी के काव्य में लगभग इन सभी स्थितियों का न्यूनाधिक चित्रण है, यद्यपि आरम्भिक (जिज्ञासा, आकर्षण आदि) और आन्तरालिक (सम्बन्ध भावना, विरहानुभूति आदि) स्थितियाँ महादेवी के काव्य में अधिक हैं। रहस्यानुभूति की पार्यन्तिक दशा (मिलनोल्लास, समाधि आदि)—महादेवी को इष्ट या स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती।

---

१ वात्स्यायन, सच्चिदानन्द, हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० ६४, —दिल्ली—१९६७।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ, ३२–३३, इलाहाबाद २००७ वि०।

३ गुर्टू, शचीरानी (संपा०), महादेवी वर्मा : काव्यकला और जीवन-दर्शन,—पृष्ठ ६०, —दिल्ली—१९६३

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि छायावादी साहित्यकार मुख्यतः साहित्यकार हैं, इन्हें साधकों एवं सिद्धों के पद पर आसीन करना ग़लत है। सांस्कृतिक नवजागरण के उत्साह में साहित्यकारों ने भारतीय अध्यात्म को अपने चिन्तन, भावुकता एवं कल्पना का विषय बनाया। छायावादी काव्य में पाई जाने वाली रहस्य-भावना इसी परिवेश-जन्य उत्साह का परिणाम है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका एक अन्य कारण भी बतलाया है—"जो बात परिपाटी-विहित रसज्ञता के प्रेमियों को लौकिक दृष्टि से खटकने वाली लग सकती है, वही बात आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर अच्छी लग सकती है। इसीलिए शुरु-शुरु के छायावादियों ने अपनी रचनाओं को आध्यात्मिक रूप देना चाहा।..............सभी छायावादी रहस्यवादी कहे जाने लगे।........ परन्तु सभी छायावादी रहस्यवादी नहीं है।"[3] आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार महादेवी की रचनाओं में रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति है।[4]

महादेवी के काव्य में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति वास्तविक है या काल्पनिक और उसका मूल आलम्बन पार्थिव है या अपार्थिव, इस बारे में विद्वानों में अनेक मत हैं। पर जिस प्रकार के विषाद और दुःख की छाया महादेवी के सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त हैं, वह मात्र कल्पित नहीं हो सकती, यद्यपि इतना ठीक है कि अत्यधिक प्रसाधन-प्रियता एवं चित्र मोह आदि के कारण इस काव्य में अनुभूति की तीव्रता का अभाव द्योतित होता है। इस अभाव को मात्र संयम या संकोच का परिणाम कह कर नहीं टाला जा सकता। संयम में तो प्राणों की हूक और भी अधिक मार्मिक हो जाती है। इस काव्य में यत्र-तत्र लौकिक संकेत भी हैं। विद्वानों ने महादेवी के काव्य में यत्र-तत्र 'रहस्य तथा अध्यात्म के आवरण के पीछे नाना प्रकार के सामाजिक बन्धनों तथा अतिचारों से पीड़ित तथा उनका पूरी तरह अतिक्रमण कर सकने में असमर्थ आज के

---

१ (क) गुर्टू, शचीरानी (संपा०), महादेवी वर्मा : काव्यकला और जीवनदर्शन, पृ० ५१।
(ख) द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, साहित्य-सहचर, पृष्ठ ६६, वाराणसी—१९६५।

२ मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ। 'यामा, पृ० २१८, इलाहाबाद, —वि० २००८।

३ द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास,—पृष्ठ ४७२, —दिल्ली—१९५२।

४ वही०।

(आधुनिकता के प्रथम चरण के) नारी हृदय की पीड़ा, कसमसाहट तथा विवशता की भी सत्ता' देखी है।[1]

३. दुःखवाद—ऐसी रहस्य भावना, महादेवी के काव्य में बहुत कम अभिव्यक्त हुई है 'जहाँ सारी इच्छाएं शान्त हो जाती हैं; हृदय की सभी ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, सारे संशय विनष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति लोकोत्तर आनन्द में डूब जाता है।'[2] इसके विपरीत महादेवी के काव्य में दुःख, आँसू, वेदना, पीड़ा आदि का ही साम्राज्य है। दुःख की सामान्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा मात्र दुःख की अभिव्यक्ति और दुःख से प्यार, या कहें मोह, महादेवी के काव्य की उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। महादेवी ने स्वयं अपने काव्य में दुःख-बाहुल्य या 'दुःखवाद' की स्थिति स्वीकार की है, और उसके कारण को स्पष्ट करने के प्रयास के साथ-साथ सैद्धांतिक स्तर पर दुःखवाद की महत्ता स्थापित की है। वे लिखती हैं—

(क) 'संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है।............कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।'

(ख) ......"इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

(ग) ......"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूंद आसूं भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।'[3]

यहाँ (क) एवं (ख) भाग में दुःख के प्रति आकर्षण के हेतु तथा दुःखवाद के दार्शनिक आधार की ओर संकेत किया गया है, और (ग) भाग में दुःख की व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक महत्ता बताई गई है। यह स्पष्टीकरण,

---

१ (क) मिश्र, शिवकुमार, नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ ६०, कानपुर —१९६२।
(ख) गुर्टू, शचीरानी (संपा०) महादेवी : काव्यकला और जीवनदर्शन, पृ० २६६, —दिल्ली—१९६३।

२ त्रिपाठी, राममूर्ति, रहस्यवाद, पृष्ठ ४३, दिल्ली, १९६९।

३ महादेवी, यामा, (अपनी बात), पृष्ठ १२, इलाहाबाद, वि० २००८।

गलत चाहे न कहा जाए, अपर्याप्त अवश्य है। जिस व्यक्ति को 'समता के धरातल पर सुख-दु:ख का मुक्त आदान-प्रदान करने वाला' मित्र ही नसीब न हुआ हो, वह कैसे 'बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है' 'कह सकता है ?[१]

(ग) भाग में महादेवी जी ने 'दु:ख के आध्यात्मिक और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रख कर विचार किया है'[२] जोकि अधूरा है, अतएव भ्रामक है। 'सुख का एक आध्यात्मिक और दु:ख का भौतिक स्वरूप भी है, जिसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई।'[3] भारतीय तत्त्व-चिंतकों ने सुख की आध्यात्मिकता को लोकोत्तर आनन्द से रूप में प्रतिपादित किया है। महादेवी जी इससे अपरिचित नहीं कही जा सकतीं।

लगता है कि बौद्ध दर्शन के दु:खवाद से **असमय परिचय और कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से** महादेवी जी के मन में 'दु:ख' शब्द घर कर गया। उन्होंने (सृष्टि एवं स्रष्टा अथवा जीव एवं ब्रह्म सम्बन्धी) अपने सम्पूर्ण चिन्तन, या सारी धारणाओं को 'दु:ख' शब्द में केन्द्रित कर दिया। वैसे साधन रूप में दु:ख की महत्ता कबीर आदि भक्त कवियों ने भी स्वीकार की है, क्योंकि दु:ख व्यक्ति को भगवान का स्मरण करने के लिये प्रेरित करता है।[४] ऐसे स्थलों पर साध्य भगवत-प्रेम है, दु:ख नहीं। महात्मा बुद्ध ने भी दु:ख से बचने के साधनों पर बल दिया है, जो अष्टांग साधना-पद्धति के नाम से विख्यात है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।'[५] (महात्मा बुद्ध के दु:खवाद का अनात्मवादी दृष्टिकोण एवं निर्वाण-सिद्धान्त भी महादेवी में नहीं है।) महादेवी ने तो दु:ख को ही साध्य बना लिया प्रतीत होता है।[६] यहाँ

---

१ मानव, विश्वंभर, महादेवी की रहस्य साधना, पृष्ठ ११, मुरादाबाद —१९४४।

२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १७४, —इलाहाबाद—१९६६।

३ वही०, " " "

४ मुख के माथे सिल पड़े नाम हृदय ते जाय,
बलिहारी वा दु:ख की पलपल नाम रटाय॥ —कबीर —श्यामसुन्दर दास।

५ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ३३७, बनारस, वि० २०१५, सम्पा०

६ मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आंखें भरती आंसू के सागर॥—यामा, पृ० ७५, —इलाहाबाद, वि० २००८।

पीड़ा का साम्राज्य ।'[१] 'अश्रु ही शृंगार है ।'[२] वह स्वयं 'नीर भरी दुःख की बदली ।'[३] अपने 'सूनेपन पर ही मतवाली है। प्राणों का दीप जलाकर दीपावली करती रहती है,[४] और अपना 'मिटने का अधिकार बनाये रखना' भी चाहती है ।'[५] महादेवी स्वयं मानती है कि महात्मा बुद्ध के दुःखवाद से उनके अपने काव्यगत दुःखवाद का दूर का ही सम्बन्ध है ।[६]

४. दुःखवाद और उदात्त—

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि महादेवी के दुःखवाद का उदात्त की दृष्टि से क्या महत्त्व है ? उदात्त व्यक्ति तो दुःख से जूझता है, उनका परिहार करने के लिए संघर्षरत रहता है । वह दुःखों का वरण, अनिवार्य साधन के रूप में, कर सकता है, करता भी है, पर दुःख उसका साध्य नहीं होता । अतः दु.ख को साध्य के रूप में प्रस्तुत करते प्रतीत होने वाले और दुःख को स्वीकार ही नहीं अपितु प्यार करने वाले इस काव्य का मूल्यांकन समस्या बन जाता है । (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसी समस्या को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार 'केवल कल्पना या वैयक्तिक-संवेदना की भूमि पर की गई रचना का साहित्यिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आंका जाए ।'[७])

वास्तव में समस्या का मूल कारण महादेवी के काव्य में दुःख-प्रेम से भी अधिक दुःख शब्द से प्रेम, या कहें, मोह है । अतः महादेवी की दुःख की अवधारणा से परिचित होना आवश्यक है । महादेवी कहती है—'मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनाशील हृदय को सारे संसार में एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा

---

१ साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का ।। वही०, पृष्ठ १० ।

२ क्यों अश्रु न हों शृंगार मुझे ?—दीपशिखा (गीत सं० ३५)
—इलाहाबाद, वि० २०१९ ।

३ मैं नीर भरी दुःख की बदली ॥ यामा., पृष्ठ २२७ ।

४ अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती दीवाली ।। यामा, पृष्ठ १० ।

५ रहने दो हे देव । अरे,
यह मेरा मिटने का अधिकार ।। यामा, पृष्ठ ७ ।

६ यामा (अपनी बात) पृष्ठ १२, इलाहाबाद, वि० २००८ ।

७ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३३-३४, इलाहाबाद, वि० २००७ ।

के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।[1] इस तरह महादेवी के दुःखवाद का एक पक्ष पर दुःख कातरता या करुणा ठहरता है और दूसरा आत्मा का क्रन्दन या रहस्यानुभूति। करुणा उत्कृष्ट गुण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परमेश्वर की लोकोत्तरता को द्योतित करने वाले गुणों में उसका 'करुणा-निधान' या 'करुणामय' होना भी आता है। महादेवी ने करुणा का महत्त्व सिद्ध करने के लिए वैदिक-साहित्य से लेकर 'साकेत' की उर्मिला तक को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है।[2] परन्तु महादेवी के काव्य में 'करुणा' या 'करुण' शब्द का प्रयोग तो अनेक स्थलों पर मिलता है, किन्तु परदुःख-कातरता से प्रेरित कविताएँ अपवाद रूप में ही मिलती हैं। जैसे—

कह दे माँ क्या अब देखूँ ?
देखूँ खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को
तेरी चिर यौवन-सुषमा
या जर्जर जीवन देखूँ।
....
....
....
तुझ में अम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू जल
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ।[3]

उद्धृत कविता में यही दो अच्छे पद्य हैं। अन्यत्र प्रसाधन-मोह ने प्रकृति-सौन्दर्य और जीवन की कुरूपता के वैषम्य को उभारने नहीं दिया। विभिन्न पद्यों मे दिए चित्रों में उत्तरोत्तर भावोत्कर्ष-क्षमता नहीं है। यहाँ जीवन का क्रन्दन भी सामान्य रूपमें चित्रित है अतएव पाठक पूर्णतः द्रवित नहीं हो पाता।

वास्तव में महादेवी की करुणा या पर-दुःख कातरता मुख्यतः उनकी गद्य रचनाओं ('शृंखला की कड़ियाँ,' 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के

---

१ यामा, (अपनी बात), पृष्ठ १२, इलाहाबाद, वि० २००८।
२ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६५-१००, इलाहाबाद —१६४४।
३ यामा, पृष्ठ ६६-१००।

चलचित्र') में, बड़े मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है। परन्तु उनकी कविताओं में 'सीमा के बन्धन में पड़े असीम का क्रन्दन'[1] ही अधिक अभिव्यक्त हुआ है। इस क्रन्दन में कितना दुःख 'पार्थिव वन्धनों का है या शृंखला की कड़ियों का है, यह अलग प्रश्न है। रोचक तथ्य यह है कि गद्य में महादेवी जी 'बन्धनों' के विरुद्ध बोलती हैं और कविता में बन्धनों को स्वीकार करती प्रतीत होती हैं। एक ही स्थिति के प्रति, इस प्रकार दो विभिन्न ही नहीं, अपितु विरोधी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति हुई है। यह आलोचकों के लिए एक समस्या है। कुछ आलोचक इनके काव्य में अभिव्यक्त 'बन्धन-मोह' को, 'सीमा' और असीम' आदि शब्दों के प्रयोग के कारण रहस्य-भावना से सम्बद्ध मानकर, सराहते रहते हैं। यदि महादेवी का काव्य अध्यात्म-प्रधान है, तो भी इस 'बन्धन-मोह' ने इसे अधिक उत्कर्ष तक नहीं पहुँचने दिया। 'आत्म-पीड़न' और 'आत्मकरुणा' न इहलोक की दृष्टि में साध्य है, न परलोक की दृष्टि से। वास्तव में 'महादेवी के काव्य का आधार अन्तर्मुखी चिन्तन है, विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मदर्शी जिन अनुभूतियों में रमता है, उनका उसमें अभाव है।'[2] बन्धनमोह और दुःख या दुःख के पर्यायवाची शब्दों, का मोह महादेवी के काव्य की सीमा है। इसका कारण उनके चिन्तन की अस्पष्टता है। चिन्तन-गत अस्पष्टता इस बात से और स्पष्ट हो जाती है, जब एक ओर वह दुःख का महिमागान करता नहीं अघाती और दूसरी ओर यह भी कहती है—मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं जीवन भर आँसू की माला ही गूँथा करूँगी।"[3]

उदात्त की दृष्टि से महत्त्व की बात यह है कि महादेवी के काव्य में 'दुःखवाद' के आवरण के बावजूद प्रवल जिजीविषा है। बहुत स्थानों पर जीवन दुःख का पर्याय नहीं अपितु दुःख जीवन का पर्याय बन गया है। उस रूप में दुःख का वरण जीवन का वरण हो जाता है। दुःख अपना सीमित अर्थ छोड़ देता है। आँसू शृंगार का उपकरण बन जाते हैं—

क्यों अश्रु न हों शृंगार मुझे ?
रंगों के बादल निस्तरंग
रूपों के शतशत वीचिभंग
किरणों की रेखाओं में भर

---

१ यामा, (अपनी बात) पृष्ठ १२, इलाहाबाद, वि० २००८।

२ गुर्टू शची रानी, (संपा०) महादेवी वर्मा, काव्यकला और जीवन दर्शन—(भूमिका), —दिल्ली —१९६३।

३ यामा, (अपनी बात) पृष्ठ १२, इलाहाबाद—वि० २००८।

अपने अनन्त मानस पट पर
तुम देते रहते हो प्रतिपल
जाने कितने आकार मुझे
हर छवि में कर साकार मुझे ।[1]

इसी प्रकार प्रियतम का विरह दुःख भी मात्र नाम के लिए दुःख रह जाता है—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !
....
जिसको पथ-शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर,
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख-दुःख भेटूँगी भुज भर,
मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण-कण में ममता बिखरी ।।[2]

यहाँ प्रियतम का अनुराग कण-कण के प्रति ममता के रूप में उत्फुल्लता से बिखरा है। इन पंक्तियों में अभिव्यक्त आस्था, उत्साह, द्रवण एवं सहज उल्लास-भावना मे एक खुलापन एवं उत्कर्ष है। ऐसी रचनाओं में पथ-शूल केवल इसलिए प्रिय हैं क्योंकि वह प्रियतम के पथ के हैं और उसके लिए तो वह अंगारों भरे ज्वाला के देश का भी प्रसन्न-मन वरण कर सकती हैं :—

प्रिय पथ के यह शूल मुझे अति प्यारे ही हैं ।
....
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं । [3]

स्पष्ट ही दुःख यहाँ साध्य नहीं है, साधन ही है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा जब "मिलन का मत नाम ले, "मैं विरह में चिर हूँ ।" कहती हैं तथा विरह को साध्य रूप में प्रस्तुत करती प्रतीत होती हैं तब उन पर आज की

---

१ दीपशिखा, पृष्ठ १२७–२८ इलाहाबाद. वि० २०१६ ।
२ यामा पृष्ठ २५४ ।
३ यामा, पृष्ठ २१३, इलाहाबाद, वि० २००८ ।
४ वही०, पृष्ठ २१८ ।

बुद्धिवादिता का प्रभाव भी (अधूरे रूप में) दृष्टिगोचर होता है। मानव-केन्द्रित-चिन्तन के इस युग में व्यक्ति-मुक्ति की कल्पना प्रबुद्ध व्यक्ति को, चाहे वह ईश्वर में विश्वास रखता हो चाहे नहीं, मान्य नहीं हो सकती । इसीलिए 'रहस्य के उपासक' रवीन्द्रनाथ ने भी भक्त को सम्बोधन करके लिखा है :—

'मोक्ष ? कहाँ मिलता है मोक्ष ? हमारे स्वामी ने स्वयं आनन्द से सृष्टि के बन्धनों का वरण किया है। वह सदा के लिए हमसे बँधा है।[1] रवीन्द्रनाथ ने वहीं लिखा है 'ईश्वर वहाँ है, जहाँ श्रमिक और कृषक पसीना बहा रहे हैं। महादेवी ने इस रूप में इस सहजता से कविता में जीवन को स्वीकार नहीं किया है। जीवन को मात्र-दुःख का या मात्र-दुःख को जीवन का पर्याय समझने में चिन्तन की अस्पष्टता और एकांगिता प्रकट होती है। परिणामस्वरूप अधिकाश कविताओं में चिन्तन की अस्पष्टता और-प्रसाधन-प्रियता के बोझ ने अनुभूति की तीव्रता का क्षय कर दिया है। चिन्तन की एकांगिता का प्रतिफलन एक-रसता में हुआ है। फिरभी महादेवी के काव्य में कहीं भी पंकिलता नहीं है। ऐसी पर्याप्त रचनाएं हैं जिनमें चिन्तन की स्पष्टता अनुभूति की स्वच्छता और कल्पना की मार्मिकता मुखरित हुई है। ऐसी रचनाओं में दुःख-मोह और आत्म-करुणा की अपेक्षा उत्साह एवं आत्मोत्सर्ग की स्निग्ध दीप्ति है। उदात्त की दृष्टि से ऐसी रचनाएं ही महादेवी के काव्य की उपलब्धि हैं।

५. कुछ उदात कवितायें

(क) रश्मि'—महादेवी की उत्कृष्ट रचनाओं में सर्वप्रथम 'चुभते ही तेरा अरुण बाण।'[2] शीर्षक गीत ध्यान आकर्षित करता है। 'नीहार' के धुँधले, विषादपूर्ण और पीड़ामय वातावरण के पश्चात् 'रश्मि' का यह प्रथम गीत उषा की प्रथम किरण के स्पर्श-जन्य विश्वव्यापी जीवनोन्मेष, उल्लास, उन्मुक्तता और माधुर्य के चित्रण से एक खुलेपन और उत्कर्ष की अनुभूति देता है। जिस रहस्यमयी के अरुण बाण से चतुर्दिक् संगीत व्याप्त हो जाता है, कनक रश्मियों में अथाह सिन्धु हिलोरें लेने लगता है, मेघ इन्द्र धनुर्ष वितान में परिणत हो जाते हैं, पक्षी चहचहाने और उड़ानें भरने लगते हैं तथा कलियाँ चटकने-खिलने लगती हैं, उसके समक्ष सहृदय का विस्मित विनत एवं उत्कर्षित होना स्वाभाविक है। गीत की लय एवं अभिव्यंजना में शक्ति की दीप्ति की

---

१ Collected Poems and Plays of Rabindra Nath Tagore, Page 7,
—Macmillan, London—1961.

२ यामा, पृष्ठ ६६ इलाहाबाद, वि० २००८।

अपेक्षा माधुर्य की द्रुति है। अतएव यह रचना अभिभूत करने की अपेक्षा रससिक्त करती है और बहा ले जाती है।

(ख) नीरजा—'नीरजा' की 'तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?' शीर्षक रचना में चिर-मिलन का उल्लास, मस्ती, और आत्मोत्सर्ग आदि की उत्कर्षक व्यंजना है। प्रियतम के अधर विचुम्बित प्याले में मधुमय, विषमय, जो भी मिले, उसे उन्मुक्त भाव से बिना कुछ पूछे, ग्रहण करने में एक ऐसी अतिक्रामी मन:स्थिति की अभिव्यक्ति है जहाँ विजय-पराजय, बनना-मिटना, और स्वर्ग-नरक आदि सब छोटे पड़ जाते हैं।'[1] उदात्त रचना की अतिक्रामिता इस बात में भी होती है कि उसकी रचना-प्रक्रिया में लेखक के अपने पूर्वग्रह पीछे छूट जाते हैं। इसीलिए ऐसी रचनाओं में महादेवी का बहुचर्चित 'दु:खवाद' (या दु:खमोह) नहीं मिलेगा। इस सन्दर्भ में उदात्त, आत्मोत्तीर्णता का पर्याय हो जाता है। (यही आत्मोत्तीर्णता टालस्टाय के 'अन्ना करेनिना' और तुलसी के 'रामचरित-मानस' में देखी जा सकती है।)

'नीरजा' की एक अन्य अच्छी रचना में पराशक्ति का 'अप्सरा'[2] के रूप में चित्रण है। इस मानवीकरण में सृष्टि का संपूर्ण वैविध्य, अप्सरा के विभिन्न प्रसाधनों का रूप ले लेता है। आलोक और तिमिर, सित-असित चीर बन जाते हैं, रवि-शशि अवतंस (कर्णाभूषण) बन जाते हैं। चपला विभ्रम और इन्द्र-धनुष स्मिति में परिणत हो जाते हैं। उस शक्ति की लोकोत्तरता इन उपकरणों से ही व्यंजित है। कविता के अन्त में कवयित्री स्वयं अपने कथ्य से अभिभूत हो विनत भाव से कह उठती है —

---

१ तेरा अधर विचुम्बित प्याला
तेरी ही स्मित-मिश्रित हाला
तेरा ही मानव मधुशाला,
फिर पूछूँ क्यों मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या ?
रोम रोम में नन्दन पुलकित
साँस-साँस में जीवन शतशत
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिमित
मुझ में नित बनते मिटते प्रिय
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?
—यामा, पृ० १४२-४३।

२ यामा, पृष्ठ १९५-९६, इलाहाबाद वि० २००८।

है सृष्टि-प्रलय के आलिंगन !
सीमा-असीम के मूक मिलन !
कहता है तुझ को कौन घोर,
तू चिर रहस्य मयी कोमलतर !

तेरे हित जलते दीप-प्राण,
खिलते प्रसून हँसते विहान,
श्यामाँगिनि ! तेरे कौतुक को
बनता जग मिट मिट सुन्दरतर !
प्रिय-प्रेयसि । तेरा लास अमर !

मोटे अक्षरों वाला शब्द-युग्म पराशक्ति की अतिक्रामिता एवं अनिवर्चनीयता को द्योतित करते हैं ।

(ग) 'सान्ध्य-गीत' का मैं नीर भरी दुख की बदली'[1] शीर्षक गीत जितना प्रसिद्ध है, उतना उत्कृष्ट नहीं है । इसका कारण (गीत के पाँचों पद्यों में) भावान्विति का अभाव है । प्रथम पंक्ति अवश्य मार्मिक है, जैसाकि महादेवी की अधिकांश रचनाओं में प्रायः मिलता है । कुछ विद्वान् महादेवी के काव्य-व्यक्तित्व का इसी पंक्ति से परिचय देते हैं । गीत का प्रथम पद्य चिन्तनबोझिलता के फलस्वरूप प्रथम पंक्ति के प्रभाव का विलोम है । दूसरे पद्य में 'पग पग में संगीत भरा' होने में आह्लाद की अभिव्यक्ति है । तीसरा पद्य मिटने और बनने की निरन्तरता का द्योतक है । चौथे पद्य में निर्मलता और निस्संगता है, परन्तु पाँचवें और अन्तिम पद्य में अवसाद है । कुछ विद्वान् अन्तिम पद्य[2] का दर्शन परक अर्थ लगाते हैं । उनके अनुसार 'विस्तृत नभ के किसी कोने को अपना बना लेना मोह या आसक्ति है' कवयित्री बौद्ध दर्शन के प्रभाववश यहाँ अपनी अनासक्ति को अभिव्यक्त कर रही है.......आदि ।'[3] यहाँ निवेदन है कि उक्त

---

१ यामा, पृष्ठ २२७ ।

२ विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ।
—यामा—पृष्ठ २२७ ।

३ मदान, इन्द्रनाथ (संपा०) महादेवी (चिन्तन व कला) पृ० १३०, दिल्ली—१९६५ ।

पद्य से स्वयं यह अर्थ नहीं व्यंजित होता। महादेवी के व्यक्ति-जीवन की संकेतक इन पंक्तियों का 'उलटबाँसी' की तरह अर्थ लगाना उदात्त के प्रतिकूल है। इस पद्य को यदि बौद्ध दर्शन का प्रतिफलन मान लिया जाए, तो तीसरे पद्य में 'रजकण पर जलकण हो बरसने' तथा 'नव जीवन अंकुर बनकर निकलने' की इस 'अनासक्ति' से क्या संगति है? स्पष्ट ही इस कविता में अस्पष्ट-चिन्तन-जन्य भाव-वैषम्य है, जिसके फलस्वरूप यह कविता बहु-चर्चित होकर भी उत्कर्षक नहीं है।

'सान्ध्य-गीत' में कुछ अन्य रचनाएँ पर्याप्त अच्छी हैं, जिनमें 'हे चिर महान्!' शीर्षक हिमालय को संबोधित गीत भी है। इसमें हिमालय की लोकोत्तर निस्संगता, गरिमा एवं पर दुःख कातरता का गौरव गान है—

नभ में गर्वित झुकता न शीश
पर अंक लिए है दीन क्षार,
मन गल जाता नत विश्वदेख
तन सह लेता है कुलिश भार।
कितने मृदु, कितने कठिन प्राण।
हे चिर महान्![1]

इस रचना की अन्तिम पंक्तियों में कवयित्री ने एक कामना प्रकट की है, जो उस के व्यक्तित्व को समझने में पर्याप्त सहायक है—

....

तन तेरी **साधकता** छूले
मन ले **करुणा** की छाँह नाप।
उर में **पावस** दृग में **विहान**।[2]

मोटे शब्द महादेवी के प्राप्य आदर्श को बताते हैं। महादेवी की **साधकता** दीप के प्रतीक में व्यंजित होती है और **करुणा** आँसुओं और बदली के रूप में। 'विहान' का प्रकाश और 'पावस' की पर-ताप कातरता इनकी कविताओं में बहुत कम अभिव्यक्त हुई है। (३ जनवरी, १९६५ के 'धर्मयुग' में छपी इनकी नई कविता में भी '**पूछो न प्रात की बात** आज आँधी की राह चलो!' का आदर्श व्यक्त हुआ है।) यह महादेवी के काव्योत्कर्ष की सीमा है।

---

१ यामा, पृ० २५३, इलाहाबाद, वि० २००८।
२ वही०।

(घ) दीप शिखा—महादेवी की 'दीप शिखा' में दीप के प्रतीक का मुख्यतः प्रयोग हुआ है। इस दीप में यद्यपि बौद्धों के 'अप्पदीपो भव' (आत्म दीपोभव) आदर्श की निस्संगता और उज्ज्वलता नहीं है, फिर भी दृढ़ता से जलते रहने की निष्ठा और कहीं-कहीं आत्मोत्सर्ग की कामना है। प्रियतम को संबोधित और समर्पित होने पर भी, युग चिन्तन के फलस्वरूप 'दीपशिखा' में पृथ्वी या मर्त्यलोक से नाता बनाए रखने की चाह है।

उदात्त की दृष्टि से 'दीपशिखा' की तीन-चार रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अन्यत्र चिन्तन एवं चित्र मोह (कल्पना) के आधिक्य में अनुभूति दब गई है।[1] अनुभूति की न्यूनता या अभाव में, रचनाएँ दीप्त वक्तव्य या चित्र-संग्रह रह जाती हैं, उनमें अभिभूति-क्षमता नहीं होती। इस संग्रह की उल्लेखनीय रचनाओं में तीसरी, पैंतीसवीं, चवालीसवीं और सैंतालीसवीं कविताएँ हैं। इनमें तीसरी कविता (ओ चिर नीरव।)[2] हिमालय और सरिता के रूपक में निस्संग कूटस्थ ब्रह्म और चंचल-विकल जीव के सम्बन्ध को रूपायित करती है। अन्तिम पंक्तियों में यह कामना प्रकट की गई है—

पाथेय रहे तेरा दृगजल
आवास मिले भू का अंचल।

पैन्तीसवीं कविता (क्यों अश्रु न हों शृंगार मुझे।)[3] में उल्लास और आनन्द की अभिव्यक्ति है जहाँ :—

हर स्वप्न स्नेह का चिर निबन्ध,
हर पुलक तुम्हारा भावबन्ध,
निज साँस, तुम्हारी रचना का
लगती अखण्ड विस्तार मुझे।
हर पल रस का संसार मुझे!

यहाँ धरती की मनुहार हर पग पर स्वर्ग बसा देती है, अतः कवयित्री का आनन्दित होना स्वाभाविक है। चवालीसवीं कविता (तू भू के प्राणों का शतदल)[4] हिमालय को सम्बोधित है। इसमें हिमालय को ऐसे 'शतदल' के

---

१ नगेन्द्र आस्था के चरण, पृष्ठ ५८४, दिल्ली —१९६८।
२ दीपशिखा, पृष्ठ ७३, इलाहाबाद, वि० २०१६।
३ दीपशिखा, पृष्ठ १२७-२८, इलाहाबाद, वि० —२०१६।
४ वही०, पृष्ठ १४१-४२।

रूप में चित्रित किया गया है, जिसके दल 'सित क्षीर फेन हीरक रज से' चाँदनी में निर्मित हुए हैं, रजनी, उषा और सन्ध्या उसका मुख धोती और पोंछती हैं। कवयित्री नत भू के प्राणों का परिचय देने के लिए शतदल को ही उपयुक्त पात्र समझती है।

महादेवी जी की लगभग सारी कविताएं एक ही संबोध्य को निवेदित हैं। इनमें अधिकांश गीत हैं। प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। (आलोचकों को शिकायत है कि महादेवी के काव्य में विशेषत:, और सम्पूर्ण छायावादी काव्य में सामान्यत:, प्रतीकों का प्रयोग भाव-सम्प्रेषण की अपेक्षा भाव-संगोपन के लिए हुआ है)। सामान्यत: ये प्रतीक निश्चित अर्थ के द्योतक हैं, परन्तु कुछ जगह ऐसा नहीं भी है। अत: 'प्रसंग का ध्यान न रखने से भ्रान्त हो जाना असंभव नहीं।'[1] महादेवी की भाषा सामान्यत: परिष्कृत, मधुर और कोमल है, परन्तु सब जगह शुद्ध नहीं है। कई जगह गीतों में 'भाव-विच्छिन्नता भी पाई जाती है। एक गीत एक ही भाव की पूर्ण परिणति नहीं होता। उसमें कई भाव झलक उठते हैं।'[2]

६. निष्कर्ष—निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि महादेवी के काव्य में प्रकट होने वाली जिजीविषा अस्पष्ट-चिन्तन और प्रसाधन-प्रियता के फलस्वरूप बहुत कम स्थानों पर उदात्त को छू सकी है। और वह औदात्य भी, शुद्ध कोटि का, एकाध स्थल पर ही है, यद्यपि उसमें अधिकांश स्थलों पर उदात्तोन्मुखता है। इस काव्य में प्रसाद की सांस्कृतिक गरिमा, निराला की-सी अभिभूत करने वाली मानवीय संवेदना और पन्त-काव्य का-सा शिल्प कौशल नहीं है। फिर भी प्रणय के शालीन संयत चित्रण में, एवं छायावादी काव्य के रहस्यानुभूति-पक्ष को निष्ठा एवं दृढ़ता से अभिव्यक्ति देने में महादेवी का अपना स्थान है।

कुछ अन्य कवि

१. छायावाद काल के इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त उदात्त की दृष्टि से एक दो अन्य नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम नाम श्री माखनलाल चतुर्वेदी का है। यद्यपि इनका रचना काल द्विवेदी युग से 'अकविता' तक फैला हुआ है, फिर भी इनकी मूल प्रवृत्ति छायावाद काल के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पक्ष से

---

१ मानव, विश्वंभर, महादेवी की रहस्यानुभूति, पृष्ठ १५४, मुरादाबाद—१९४४।

२ गुर्टू, शचीरानी (सपा०), महादेवी वर्मा, "काव्य कला और जीवनदर्शन, —पृष्ठ ६०, दिल्ली—१९६३।

सम्बद्ध है, क्योंकि इनमें गुप्तजी की दृष्टि एवं स्थूल अभिधा शैली से कहीं आगे की अनुभूति की ऊष्मा और अभिव्यक्ति की नवीन भंगिमा है। इनकी कविता में ओजस्विता और भावुकता, बलिदान और माधुर्य, आवेग और समर्पण, एवं स्वातन्त्र्य प्राप्ति की तड़प तथा मस्ती भरी स्वच्छन्दता एक साथ मिलती है। इनकी रचनाएँ 'कहीं देश को समर्पित और निवेदित हैं और कहीं देव को कहीं मानव को'[1] और कहीं किसी अस्पष्ट प्रियतम को। प्रत्येक स्थल पर अनुभूति की तीव्रता और ऊष्मा पाठक को अभिभूत करती है, परन्तु उसका स्वरूप प्रायः अस्पष्ट रहता है।[2] इसीलिए अधिक स्थलों पर, भवानीप्रसाद मिश्र के शब्दों में "कविता जितनी समझ में आती है उतनी ही समझ में नहीं भी आती।"[3] इनका व्यक्तित्व इनके कृतित्व से कहीं बड़ा है, अतएव जो भी इनके सम्पर्क में आया श्रद्धावनत हुआ। अनेकों कवि इनसे प्रेरित एवं प्रभावित हुए।

उदात्त की दृष्टि से इनकी तीन चार रचनाएँ अतीव उत्कर्षक हैं। इनमें 'पुष्प की चाह,' 'कैदी और कोकिला' तथा 'जवानी' आदि का नाम अनायास ही ध्यान में आता है। इन रचनाओं का अन्य लेखकों की अनेकों 'राष्ट्रीय' रचनाओं की तरह मात्र ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। अपने काव्य-गुणों के कारण ही इनमें 'काल के पृष्ठों पर अंकित' रहने की क्षमता है।

'पुष्प की अभिलाषा'[4] शीर्षक कविता में बड़े सहज और प्रसन्न भाव से, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने के लिए जाने वाले वीरों के चरणों में (पथ पर) बिछ जाने की कामना प्रकट हुई है। कविता में अभिव्यक्त मूल्य-दृष्टि की स्पष्टता और अनुभूति की गहराई प्रसन्न, द्रवित एवं उत्कंपित करती है।

'कैदी और कोकिला'[5] शीर्षक कविता में सत्याग्रही वीर के आक्रोश, विवशता, व्यथा एवं सहजोत्सर्ग को पूरे आवेग और उद्वेग से अभिव्यक्ति मिली है। ओज एवं करुणा का अद्भुत् सम्मिश्रण पाठक को एक साथ रससिक्त और अभिभूत कर लेता है। इस कविता के सन्दर्भ में श्री विद्यानिवास मिश्र की प्रतिक्रिया उल्लेखनीय है—"उनके मुँह से 'कैदी और कोकिल' कविता सुनी थी। तभी कालिमा के विरोध में उठे प्रकाश का स्वर मन पर छा गया था।

---

१ माध्यम, पृष्ठ ५४, प्रयाग, अप्रैल—१९६६।

२ नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृष्ठ ५७६, दिल्ली—१९६८।

३ माध्यम, पृष्ठ ५३, प्रयाग, अप्रैल—१९६६।

४ मदान, इन्द्रनाथ, कविता और कविता, पृष्ठ ६३, दिल्ली—१९६७।

५ हिमकिरीटिनी, पृष्ठ १९–२०, प्रयाग, वि० २०१३।

इतना कोमल स्वर और इतना कठोर इतनी मनुहार और इतना आक्रोश, वाल्मीकि के करुण आक्रोश का ऐसा अद्वितीय अवतार।'[1]

'जवानी' शीर्षक कविता में बलिदान के आह्वान से सम्बद्ध कुछ ओजस्वी पंक्तियां इस प्रकार हैं—

ये न मग हैं, तब
चरण की रेखियां हैं,
बलि दिशा की अमर
देखा-देखियां हैं।
विश्व पर, पद से लिखे
कृति लेख हैं ये,
धरा तीर्थों की दिशा
की मेख हैं ये।
प्राण रेखा खींच दे, उठ बोल रानी,
री मरण के मोल की चढ़ती जवानी।[2]

इन कविताओं के अतिरिक्त तथा दो-एक अन्य रचनाओं को छोड़कर, ओजस्विता और माधुर्य के सम्मिलित प्रभाव के बावजूद श्री माखनलाल जी की रचनाओं में एक धुँधली अस्पष्टता और असंबद्धता है।'[3]

२. प्रमुख छायावादी कवियों के अतिरिक्त इस काल के एक अन्य विवेच्य-कवि श्री रामधारीसिंह **दिनकर** हैं। दिनकर छायावादोत्तर काल के कवि हैं, दूसरे शब्दों में 'छायावाद' और 'नई कविता' को जोड़ने वाली कड़ी है। परन्तु प्रेरणा, चिन्तन एवं प्रवृत्तियों आदि की दृष्टि से इनका काव्य छायावादी-काल का ही अवशेष है। इनका अपना कथन है—'**अनुभूतियाँ और भाव तो मुझे छायावादियों के अच्छे लगते थे,** किन्तु अभिव्यक्ति की सफाई मैं वह चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में निखरी थी।'[4] इस प्रकार दिनकर में द्विवेदी युगीन अभिव्यक्ति और छायावादी भावबोध के समन्वय का प्रयास है। वह 'पन्त के सपनों को मैथिलीशरण की भाषा में'[5]

---

१ माध्यम (पत्रिका) पृष्ठ ७२, प्रयाग, अप्रैल १९६९।

२ हिमकिरीटिनी, पृष्ठ ११४, प्रयाग, वि० २०१३।

३ नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृष्ठ ५७६, दिल्ली—१९६८।

४ दिनकर, रामधारीसिंह, काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५०, पटना, —१९५८।

५ वही०, पृष्ठ ५१।

प्रस्तुत करने के आकांक्षी रहे हैं। अतः 'मूलतः और अनन्तः उन्हें अनुप्राणित करने वाला जीवन बोध छायावादी' ही ठहरता है।[1] यद्यपि वहाँ भी दिनकर की सीमाएँ हैं। पन्त जी के शब्दों में—"वह भावावेश के क्षणों में कब विगत युग के मूल्यों का परशु उठाकर काव्य के मंच से ललकारने लगेगा—यह नहीं कहा जा सकता।"[2]

दिनकर की रचनाओं के मूलतः दो स्वर हैं। प्रथम और मुख्य स्वर, युग-परिस्थितियों के सन्दर्भ में ओजस्वी-उद्‌बोधन का है, और दूसरा एकान्त वैयक्तिक-स्तर पर प्रेम के उद्‌गारों का। लोगों में दिनकर 'युग-चारण' के रूप में विख्यात हैं, परन्तु उनका झुकाव प्रेम की ओर भी उतना ही है। वह लिखते हैं—सुयश तो मुझे 'हुंकार' से ही मिला, किन्तु आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है।'[3] उन्हीं दो रचनाओं के प्रतिपाद्य की परिणति दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' के रूप में हुई है। अतः उदात्त की दृष्टि से दिनकर-काव्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन इन रचनाओं के आधार पर किया जा सकता है।

'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' दोनों ही विचार-काव्य हैं। यद्यपि एक प्रबन्ध के आवरण में है, दूसरा नाटक के। दोनों ही संवादात्मक हैं। दोनों के प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति का माध्यम पौराणिक पात्र हैं। दोनों जगह पौराणिक युग के वातावरण की अपेक्षा, प्रतिपाद्य समस्या का आवेशोच्छ्‌वासमय विवेचन हुआ है। दोनों रचनाओं की विवेच्य समस्याएँ सार्वभौम हैं। कुरुक्षेत्र में मुख्य समस्या युद्ध और शान्ति की या वीरता की है, और उर्वशी में ऐन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय प्रेम की, नर-नारी के द्वन्द्व और आकर्षण की या प्रेम की।

वीरता और प्रेम आदिम वृत्तियां हैं, सार्वजनीन एवं सार्वकालिक हैं। एक जीवन की रक्षक हैं और दूसरी प्रेरक तथा चालक। पर सीमा का अतिक्रमण करते ही यह दोनों घातक हो जाती हैं। अतः प्रत्येक युग अपनी मूल्य दृष्टि के अनुरूप इनमें सामंजस्य और सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है, इनकी सीमाओं का निर्धारण करता है, मर्यादाओं की रक्षा और आदर्शों का अनुसरण करना चाहता है। इस प्रकार दिनकर की इन दोनों

---

१ मदान, इन्द्रनाथ, कविता और कविता, पृष्ठ १७, दिल्ली—१९६७।

२ पन्त, सुमित्रानन्दन, छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ११५–१६,
—इलाहाबाद —१९६५।

३ सिन्हा, सावित्री, युग चारण दिनकर, पृष्ठ १७९, दिल्ली —१९६३।

रचनाओं का प्रतिपाद्य महत्त्वपूर्ण है। परन्तु 'काव्य की अन्तिम परख उसके उद्घोषित आशयों द्वारा नहीं होती, अपितु उसके मानव-जीवन-सम्बन्धी आन्तरिक संस्पर्शों और उसकी सम्पूर्ण ग्राह्यता द्वारा होती है।'[1] अस्तु।

(क) कुरुक्षेत्र में द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता से व्याकुल कवि-हृदय ने युधिष्ठिर और भीष्म के तर्क-वितर्कों के माध्यम से युद्ध की समस्या पर विचार किया है। अतएव इसमें न घटनाएँ (प्रधान हैं), न पात्र ही प्रधान है और न वस्तु-वर्णन ही (प्रधान) हैं। इसमें तो युद्ध की समस्या पर, उसके औचित्य-अनौचित्य पर, आवेश भरे उद्गार हैं। सारा प्रबन्ध इसी समस्या से सम्बद्ध नाटकीय-संवाद है। महाभारत के महानाश के पश्चात् निराश, शंकाकुल और थके हुए युधिष्ठिर शांति और अहिंसा का पक्ष प्रतिपादित करना चाहते हैं, और भीष्म अन्याय का प्रतिकार करने के लिए युद्ध और हिंसा की अनिवार्यता पर बल देते हैं। इस तरह युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से कवि अपने हृदय के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति देता है। इन संवादों में भी जहाँ लेखक अपनी बात नहीं कह पाता, वहाँ पात्रों को नेपथ्य में हटाकर स्वयं मंच पर आ जाता है। कुरुक्षेत्र का छठा सर्ग इसी बात का निदर्शन है। प्रबन्ध की दृष्टि से यह क्षेपक है। यहाँ कवि महाभारत के युग को पीछे छोड़कर गाँधी के युग में पहुँच जाता है। द्वितीय महायुद्ध के भीषण नर-संहार की पृष्ठभूमि एवं नए तनावों के सन्दर्भ में, कवि को मनुष्य की आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ 'मनुष्यता' पर व्यंग्य लगती हैं। वह बड़ी भावुकता-भरी वाणी में अपर-ग्रहों के लोगों को संबोधन कर, मनुष्य की संकीर्णता, क्षुद्रता और पशुता पर आक्रोश से चोट करता है—

'पर, सको सुन तो सुनो, मंगल-जगत के लोग।
तुम्हें छूने को रहा जो जीव कर उद्योग—
वह अभी पशु है, निरा पशु, हिंस्र, रक्त पिपासु
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु,
कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
फूंकने लगते सभी, हो मत्त, मृत्यु विषाण।
यह मनुज ज्ञानी, शृंगालों, कुक्करों से हीन

---

१ वाजपेयी, नन्ददुलारे, नया साहित्य, नए प्रश्न, (निकष) पृष्ठ १२,
—बनारस (प्र० सं० अ०)।

हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।

....

....

यह मनुज, जो ज्ञान का आगार।
यह मनुज, जो सृष्टि का श्रृंगार।
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो विचारो कृत्य।
यह मनुज संहार-सेवी, वासना का भृत्य
छद्म इसकी कल्पना, पाखण्ड इसका ज्ञान
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।'[1]

कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग की स्वतन्त्र रूप में विदेशों में भी प्रशंसा हुई है।[2] दिनकर-काव्य के समष्टि-परक पक्ष की यह सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। परन्तु वीरता एवं युद्ध की समस्या से सम्बद्ध विचार-काव्य की दृष्टि से यह कोई प्रौढ़ कृति नहीं है। 'लेखक ने युद्ध सम्बन्धी वस्तुन्मुखी और बौद्धिक विचारणा का स्पर्श न कर उसको मानव-बुद्धि के परे की वस्तु ठहराया है।'[3] युद्ध के धर्माधर्म पक्ष पर विचार करते हुए लेखक ने यह परिणाम निकाला है—

पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

'कदाचित् यह पहले निष्कर्ष की ही भाँति—युद्ध को प्राकृतिक और अनिवार्य मानने वाले लक्ष्य के ही अनुरूप अबुद्धि संगत और हेतु-रहित है।'[4] यह आवेश का तर्क है। विवेक का नहीं। कुरुक्षेत्र का अन्तिम सर्ग, जहाँ सम्पूर्ण विवेच्य की प्रौढ़ परिणति होनी चाहिए, 'काव्य की दृष्टि से निर्बल और समाधान की दृष्टि से उलझा हुआ है।[5] कुल मिलाकर युद्ध से सम्बद्ध हिन्दी-काव्य-ग्रन्थों में 'कुरुक्षेत्र' का स्थान चाहे महत्त्वपूर्ण कहा जाए, परन्तु उत्कृष्ट काव्य की दृष्टि से, छठे सर्ग के कुछ अंशों को छोड़कर यह रचना विशेष महत्त्व की नहीं कही जा सकती।

---

१ कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६२–६३, पटना, १९६१।
२ साहित्य (त्रैमासिक) पृष्ठ १२७–२८। पटना, नवम्बर ५५–मार्च ५६।
३ वाजपेयी, नन्ददुलारे, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ८४, इलाहाबाद, वि० २००७।
४ वही०,।
५ नगेन्द्र, विचार और विश्लेषण, पृष्ठ १३३, दिल्ली—१९५५।

(ख) जहाँ तक समाधान का प्रश्न है, वह 'उर्वशी' में भी नहीं है। दिनकर स्वयं समाधान के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार—'प्रश्नों के उत्तर रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं।' कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'[१] दिनकर की यह स्थापना उनके अपने काव्य की सीमा तो है ही, सैद्धान्तिक रूप से भ्रामक भी है। अभिजात्य साहित्य को छोड़ भी दें, तो इसी युग की 'कामायनी' और 'राम की शक्ति पूजा' आदि कृतियाँ जितनी बड़ी समस्या उठाती हैं, उतना ही समर्थ समाधान भी प्रस्तुत करती हैं। दूसरी बात यह है कि काव्य के क्षेत्र में समाधान का अर्थ सदा 'रोग का उपचार' ही नहीं होता। गहरे अर्थ में, प्रवृत्ति की स्वीकृति या, दूसरे शब्दों में, आत्म-साक्षात्कार और आत्म-स्वीकार भी समाधान होता है। उर्वशी में वह नहीं है। रस के साहित्य में आस्वाद्यता के आग्रही, डॉ० नगेन्द्र भी 'उर्वशी' में इस दोष को स्वीकार करते हैं। इसके फलस्वरूप उन्हीं के शब्दों में 'एक ओर जहाँ 'उर्वशी' की सुन्दर कला-प्रतिमा में, पूर्ण होते-होते, दरारें पड़ जाती हैं, वहाँ सहृदय पाठक के चित्त की समाहिति भी बिखरने लगती है।'[२]

जिस भित्ति पर, दिनकर, 'उर्वशी' की 'सुन्दर कला-प्रतिमा' का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए हैं, वह भित्ति या मूल-समस्या प्रेम अथवा काम है। दूसरे शब्दों में ऐन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय प्रेम का संघर्ष या मृण्मय एवं चिन्मय प्रेम की अपूर्णता का संघर्ष, उर्वशी की मूल समस्या है—

पृथ्वी पर है चाह प्रेम को स्पर्श मुक्त करने की
गगन रूप को बाहों में भरने को अकुलाता है॥[३]

पुस्तक में उर्वशी 'गगन' का प्रतिनिधित्व करती है और पुरूरवा पृथ्वी का। पर दिनकर के अनुसार 'पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।'[४] यहाँ पुनः दिनकर के चिन्तन की अस्पष्टता (एवं प्रतिगामिता) प्रकट है। दिनकर लिखते हैं—'पुरूरवा द्वन्द्व में है, क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है।' यहाँ पूछा जा सकता है कि क्या नारी मनुष्य नहीं है? क्या उसके जीवन की भूख और चरितार्थता, 'बाहों में भरने और

---

१ उर्वशी, (भूमिका) पृष्ठ (छः) पटना—१९६१।
२ नगेन्द्र, आलोचक की आस्था, पृष्ठ १२७-२८।
३ उर्वशी, पृष्ठ ७ पटना —१९६१।
४ उर्वशी, (भूमिका) पृष्ठ (;

मर जाने तक ही सीमित है ? क्या उसमें भी पुरुष की सी दुविधा या द्वन्द्व नहीं है ? क्या दैविक अन्तर नर और नारी के जीवन-मूल्यों एवं आकांक्षाओं में इतना अन्तर डाल देता है ? और अन्त में, यह कैसा और किस युग का चिन्तन है, जो नारी को 'भोग-प्रेम' या 'देह-सीमा' से आगे सोचने का अवकाश नहीं देता'[1] स्पष्ट है कि यदि दिनकर उर्वशी को मात्र 'अपूर्ण स्वर्ग' का ही प्रतीक रहने देते तो अधिक उपयुक्त होता।

दिनकर की कविता उन्हीं के शब्दों में 'वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप की' कविता है।[2] उर्वशी में, और विशेषतः उसके तृतीय अंक में, यही विशेषता राग के धरातल पर पूरे आवेग और आवेश के साथ अभिव्यक्त हुई है। अतः इस बहु-विज्ञापित और बहुचर्चित रचना में चिन्तन की सूक्ष्मता, समृद्धि, संयम एवं अन्विति आदि को ढूंढना व्यर्थ है। आवेग यहाँ विवेक का प्रतिस्पर्धी नहीं है। भाव यहाँ चिन्तन से पुष्ट एवं निर्दिष्ट नहीं है।

इस सीमा स्वीकृति के पश्चात् सामान्य काव्य गुणों की दृष्टि से, उर्वशी में पर्याप्त अंश ऐसे हैं, जो प्रभावित करते हैं, उद्वेलित करते हैं। उदाहरण के लिए तृतीय अंक में पुरुरवा एवं उर्वशी के भावावेग एवं भावोद्वेग-जन्य उद्गारों में ऐन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय प्रेम की दुविधा में ग्रस्त पुरुरवा की विवशता, पीड़ा, तृषा, अतिक्रामी वृत्ति एवं 'मिट्टी' के दुर्निवार आकर्षण और मोह को अभिव्यक्ति मिली है—

रक्त की उत्तप्त-लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेखा को पहचान लूँ।

१ अन्य सन्दर्भों में नारी और नारीत्व की महिमा का बखान करके भी 'उर्वशी' के लेखक ने काम समस्या को 'केवल पुरुष के दृष्टिकोण से एक सीमित क्षेत्र और रूढ़िवादी परम्परा में रख कर ही देखा है, जिसके अनुसार नारी वृत्तियों का केन्द्र मात्र रह गई है।' —सिन्हा, सावित्री, युगचारण दिनकर, पृ० २०३,
—दिल्ली,—१९६३।

२ उर्वशी, भूमिका, पृ० (छः), पटना—१९६१।

पर जहाँ तक भी उड़ूँ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है ।[1]

+ + + +

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज़ देता
फिर अधर-पुट खोजने लगते अधर को ।[2]

— — — —

इसी प्रकार इसी अंक में 'उर्वशी' के आत्म-परिचय से सम्बद्ध 'आवेशित उद्गारों में' भाव एवं भंगिमा की उत्कर्षक परस्पर-स्पर्धिता विस्मय विमुग्ध कर देने वाली है—

मैं नाम-गोत्र से रहित पुष्प,
अम्बर में उड़ती हुई मुक्त आनन्द-शिखा
इतिवृत्त हीन,
सौन्दर्य चेतना की तरंग,
सुर-नर-किन्नर-गन्धर्व नहीं,
प्रिय ! मैं केवल अप्सरा
विश्व नर के अतृप्त इच्छा-सागर से समुद्भूत ।[3]
मेरे सम्मुख नत हो रहते गजराज मत,
केसरी, शरभ, शार्दूल भूल निज हिंस्र भाव
गृह-मृग-समान निर्विष, अहिंस्र बन कर जीते ।
मेरी भ्रू-स्मिति को देख चकित, विस्मित, विभोर
शूरमा निमिष खोले अवाक् रह जाते हैं ।
श्लथ हो जाता स्वयमेव शिंजिनी का कसाव,
संत्रस्त करों से धनुष-बाण गिर जाते हैं ।[4]

'उर्वशी' में लगभग इसी प्रकार के कुछ अन्य स्थल भी हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि दिनकर इसे काम-द्वन्द्व या अन्तर्मन्थन तक ही सीमित रखते, तो निश्चय ही अधिक सफल होते ।[5]

कुछ विद्वान् 'उर्वशी' एवं 'कामायनी' में साम्य की चर्चा करते हैं । परन्तु इनमें साम्य की अपेक्षा अन्तर अधिक है । 'कामायनी' में काम का इतने

---

१ उर्वशी, पृष्ठ ४६, पटना, १६६१ ।
२ वही०, पृष्ठ ५२ ।
३ वही०, " ६५ ।
४ उर्वशी, पृष्ठ ६६ ।
५ माध्यम, पृष्ठ ४८, प्रयाग, जून १६६६ ।

व्यापक और गम्भीर जीवनदर्शन के रूप में प्रतिपादन है कि उसमें मनुष्य की सम्पूर्ण मनोवृत्तियों और विषमताओं को संभालने और समेटने की क्षमता है। अतः वस्तु-विन्यास एवं शिल्प-दोषों के रहते भी कामायनी सांस्कृतिक समृद्धि एवं गरिमामय चिन्तन का काव्य सिद्ध होता है, जबकि 'उर्वशी' में चित्रित 'काम' अपेक्षाकृत सीमित भाव है। वह महत्त्वपूर्ण होकर भी 'उर्वशी' में एकदेशीय रूप में ही चित्रित है। 'काम' भाव का भी द्वन्द्व पक्ष ही 'उर्वशी' में प्रधान है। सुकन्या के माध्यम से संकेतित काम का निर्मल और उज्ज्वल पक्ष उर्वशी का नितान्त नगण्य और गौण पक्ष है। इसी प्रकार दिनकर, 'उर्वशी' की भूमिका में जिस कामाध्यात्म की बात करते हैं, वह उर्वशी की भूमिका में ही सीमित रह गया है, रचना में प्रतिफलित नहीं हुआ।

उर्वशी में कुछ सूक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं, परन्तु समग्र दृष्टि से इन सूक्तियों में भी अनेक स्थितियों पर आन्तरिक असंगति है। भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग से जहाँ गरिमा आई है, वहाँ अतिरिक्त आग्रह के कारण वही कई स्थानों पर कृत्रिमता में परिणत हो गई है। लोंगिनुस ने वाक्स्फीति को उदात्त का विरोधी बताया है,[1] परन्तु दिनकर में दुर्भाग्य-वश भाव को फैलाने (भाषण देने) की भी आदत है, इससे 'उर्वशी' के उत्कृष्ट स्थल भी प्रभाव खो बैठते हैं। फिर भी उर्वशी छायावाद-केन्द्रित छायावादोत्तर काव्य की उल्लेखनीय कृति है और दिनकर-काव्य की उपलब्धि है।

---

१ नगेन्द्र, (संपादक) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ४७,—दिल्ली—१९६१।

४
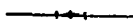
नयी कविता में उदात्त-भावना

अज्ञेय

१. महत्ता—आधुनिक हिन्दी कविता के द्वितीय चरण में, या हिन्दी की 'नयी कविता' के लेखकों में, सर्वप्रथम और कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम अज्ञेय का है। कवि रूप में अज्ञेय को अपने पूर्ववर्तियों, सहगामियों एवं अनुगामियों से किसी न किसी रूप में निरंतर विरोध मिला है, परन्तु उपेक्षित वह कभी भी नहीं हुए। अपितु सभी प्रकार के विरोधों के बावजूद, 'तारसप्तक' के (प्रथम) प्रकाशन से आजतक अज्ञेय निरन्तर नई कविता और नये कवियों के लगभग केन्द्र में रहे हैं। उनके समर्थकों और प्रशंसकों की भी कभी कमी नहीं रही है। किसी भी नयी काव्य प्रवृत्ति के प्रवर्तक, नई राहों के अन्वेषी, या उपेक्षित यथार्थ के प्रवक्ता (या प्रवक्ता होने की प्रतिज्ञा करने वाले) को न्यूनाधिक यह सब भोगना पड़ता है। नयी कविता या 'प्रयोगवाद' के प्रवर्तक होने का श्रेय, चाहे कोई लेना चाहे, परन्तु यह तो लगभग सभी को मान्य होगा कि **नयी कविता को** साहित्य में प्रतिष्ठित करने का श्रेय अज्ञेय को ही है।[1] इसीलिए अन्य किसी भी नए कवि की अपेक्षा विरोधियों के कटु प्रहार अज्ञेय पर ही हुए हैं, और उन्होंने अविचलित भाव से हर प्रहार को झेला है। कवि रूप में या व्यक्ति रूप में, या एक नागरिक के रूप में जो भी चुनौती उन्हें कभी मिली है, उसे उन्होंने विना किसी 'हड़बड़ाहट या घबराहट'[2] के, आश्वस्त भाव से स्वीकारा है और दायित्व को निभाया है। कभी क्रान्तिकारी के रूप में

---

१ (क) मिश्र, शिवकुमार, नया हिन्दी-काव्य, पृष्ठ २४३, कानपुर—१९६२।
(ख) मिश्र विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय, पृष्ठ २१-२२
—दिल्ली (प्र० व० अ०)

२ अज्ञेय, आत्मनेपद, पृष्ठ १२३; वाराणसी—१९६०।

कभी फासिज्म-विरोधी सैनिक के रूप में और कभी स्वाधीनता के पक्षधर के रूप में आग में कूदे बिना उनसे नहीं रहा गया।[1]

२. चिन्तन-क्रम—अज्ञेय के काव्य-व्यक्तित्व और उनके चिन्तन-क्रम को उनकी दो कविताओं के माध्यम से सहज ही समझा जा सकता है। उसमें पहली कविता 'नदी के द्वीप' है और दूसरी 'यह दीप अकेला'। पहली कविता व की व्यक्ति एवं समाज सम्बन्धी अवधारणा तथा व्यक्ति की 'निजता' को बनाये रखने पर बल दिया गया है—

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियां, अन्तरीय, उभार, सैकतकूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
....
किन्तु हम हैं द्वीप
....
........हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।[2]

इस कविता में व्यक्तित्व के भीड़ से अलग अपने आप में 'अप्रतिम' (और अकेले) रूप की स्वीकृति है। दूसरी कविता में इस 'अप्रतिम निजता' या व्यक्तित्व की अद्वितीयता' की स्वीकृति के बावजूद, उसके निःशेष समर्पण एवं उत्सर्ग का आग्रह एवं संकल्प है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता
पर, इसको भी पंक्ति को दे दो।
....
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित।[3]

इस कविता में 'गर्वीले', 'स्नेह भरे,' 'मदमाते', 'अद्वितीय' व्यक्ति (दीप) की

---

१ मिश्र, विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि; अज्ञेय, पृष्ठ १० —दिल्ली (प्र० व० अ०)।

२ हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ६५।

३ बावरा अहेरी,

व्यापक समाज के लिए सहर्ष, विनत, आत्म-विसर्जन की अभिव्यक्ति सहज ही उत्कर्षक है। इस प्रकार अज्ञेय का 'व्यक्ति' समाज का विरोधी नहीं। अपितु उसका पूरक होने में चरितार्थता अनुभव करता है। इसलिए अज्ञेय के चिन्तन में 'व्यक्ति या समाज' नहीं, अपितु 'व्यक्ति और समाज' के समभाव और एकात्मकता की स्वीकृति है। चिन्तन का यही स्वर, अज्ञेय की बहुचर्चित, निःशेष-समर्पण की कविता 'असाध्य वीणा' में प्रकट हुआ है—

डूब गए सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।[1]

....

....

सब डूबे, तिरे, छिपे, जागे—
हो रहे वशंवद, स्तब्ध :
इयता सब की अलग-अलग जागी।[2]

....

कवि द्वारा सबकी 'अलग-अलग' 'इयता' की स्वीकृति को कुछ लोग अज्ञेय का 'अहंवाद' कहकर प्रचारित करते हैं, पर वास्तव में यह (अलग-अलग इयता) तो 'व्यक्ति' की नियति है। कवि यदि उसमें 'अद्वितीयता' या 'अप्रतिमता' देखता है तो इसके पीछे उसकी जीवन के प्रति विस्मय-दृष्टि है, 'अहंभाव' नहीं। वह लिखता है—'ईश्वर ने .... प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनाई, भिन्न होने के कारण प्रतिमाएं परस्पर प्रेम कर सकीं।'[3]

इस प्रेम का अर्थ जीवन में 'यथा-स्थिति' की स्वीकृति नहीं है। अज्ञेय भी दुनियां में बहुत कुछ 'बदलना चाहते हैं, यदि आवश्यकता हो तो उखाड़-पछाड़ कर भी।' पर जीवन के प्रति उनका मूल दृष्टिकोण आक्रोश का नहीं विस्मय का है।[4] एक समय उनमें भी 'अपने को प्रगतिशील कहने वाले आलोचकों और कवियों पर आक्रोश में निर्मम और तीक्ष्ण-व्यंग्य करने की

---

१ आंगन के पार द्वार, पृष्ठ ८४, वाराणसी—१९६१.

२ वही०, पृष्ठ ८६।

३ एक बूंद सहसा उछली, पृष्ठ ३१४, वाराणसी—१९६०।

४ आत्मनेपद, पृष्ठ १८७, वाराणसी—१९६०।

प्रवृत्ति थी[1]। परन्तु उनकी मूल प्रकृति आत्मीयता की ही है, जिसमें विनम्रता, दृढ़ता गम्भीरता, शालीनता, जिजीविषा एवं आत्मोत्सर्ग आदि सद्वृत्तियाँ प्रधान हैं। अज्ञेय का परवर्ती काव्य ('अरी ओ करुणा प्रभामय—' १९५९, और 'आँगन के पार द्वार—'१९६१) इस बात का प्रमाण हैं।

३. **विस्मय-भाव**—जीवन के प्रति विस्मय-भाव, मूलतः स्वच्छन्दतावादी वृत्ति है, जो अज्ञेय के परवर्ती काव्य में रहस्य-निष्ठा में परिणत हो गई है। कुछ विद्वान् इसे 'नव-स्वच्छन्दतावाद' और कुछ अन्य इसे 'नव-रहस्यवाद' कहकर व्याख्यायित करते हैं।[2] परन्तु अज्ञेय के 'रहस्य' भाव का आलम्बन, परम तत्त्व न होकर, 'ममेतर' है, जिसमें पार्थिव और अपार्थिव (व्यक्त और अव्यक्त) का समग्रता में ग्रहण है। इसीलिए इसमें 'विरह-वेदना' एवं 'मिलनाकांक्षा' आदि रहस्यवादी-काव्य की आन्तरालिक स्थितियाँ नहीं है, अपितु जीवन-मात्र के आस्वादन की मस्ती है।

अज्ञेय-काव्य की इसी प्रवृत्ति को कुछ विद्वान् 'प्रतिक्रिया', 'पलायन' या मात्र 'अहंवाद' आदि का नाम देते हैं। पर अज्ञेय इस स्थिति तक देश-विदेश में घूम-फिर कर, जगह-जगह भटक कर, चिन्तकों और कवियों के निकट सपर्क में आकर तथा 'स्व' से निरन्तर जूझ कर पहुँचे हैं। आज के अधिसंख्य हिन्दी कवियों की अपेक्षा अज्ञेय कहीं अधिक सांस्कृतिक चेतना संपन्न एवं युग-चिन्तन से संपृक्त हैं।[3] पर वह पश्चिमाभिमुख नहीं हैं। 'पश्चिम का प्रभाव अज्ञेय को अधिकाधिक भारतीय बनाने में है।[4] इसीलिए उन्होंने स्वदेश को पश्चिम के आमने सामने एक समानान्तर सत्य के रूप में स्थापित पाया है।[5] अकेलेपन और विघटन का उत्तर 'अप्रतिमता'[6] और समर्पण से दिया है।

४. **उपलब्धि एवं सीमा**—फिर भी अज्ञेय-काव्य की उपलब्धियाँ कुछ सीमा तक अपर्याप्त प्रतीत होती हैं। डॉ० देवराज के अनुसार

---

१ मिश्र, विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय, —पृष्ठ २२, दिल्ली, —(प्र० व० अ०)।

२ मदान, इन्द्रनाथ, कविता और कविता, पृष्ठ २९, दिल्ली—१९६७।

३ देवराज, प्रतिक्रियाएं, पृष्ठ १८४, दिल्ली—१९६६।

४ मिश्र, विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय, दिल्ली, —पृ० १० —(प्र० व० अ०)

५ देखिए —अज्ञेय कृत 'अपने अपने अजनबी', वाराणसी—१९६१।

'जहाँ उनकी रचनाएँ अलग-अलग महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं, वहाँ वे समन्वित रूप में पाठकों के मन पर कोई बड़ा प्रभाव नहीं छोड़ पातीं।[1] वास्तव में अज्ञेय-काव्य की उपलब्धियों के अपर्याप्त लगने का कारण यह है कि अज्ञेय में जहाँ साँस्कृतिक संपन्नता और युग-चिन्तन का समृद्ध बोध है, वहाँ जीवन के वैविध्य का, वस्तुमत्ता का, सूक्ष्मता से और समीप से चित्रण कम है। क्योंकि उन्होंने 'बारबार' 'स्व' के विस्तार का समाधान 'स्व' में गहरे प्रवेश के द्वारा पाया है[2]।' इसीलिए यथार्थ-जीवन को विभिन्न आयामों में विभिन्न दृष्टि-विन्दुओं से, प्रस्तुत करने का और समग्रता में ग्रहण करने के प्रयास का जो आग्रह आज के नव लेखन में है, वह अज्ञेय के काव्य में नहीं के समान है। उनका "आँगन के पार द्वार" जितना भीतर की ओर खुलता है, उतना बाहर की ओर नहीं। 'राहों के अन्वेषण' और 'व्यक्तित्व की खोज' आदि समस्याओं का समाधान एवं 'नये जीवन-मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर' अज्ञेय को बाहर की अपेक्षा, भीतर से मिला है। इसीलिए उनका प्रारम्भिक वर्षों का विद्रोह, आज निःशेष आत्मसमर्पण द्वारा आत्मोपलब्धि में परिणत हो गया है। यह पाश्चात्य-चिन्तन की अपर्याप्तता के सन्दर्भ में भारतीय-चिन्तन की अर्थवत्ता के बोध का परिणाम है। लगता है कि अज्ञेय ने प्रयोग-शीलता एवं शब्द-साधना पर अपेक्षाकृत अधिक बल देकर वस्तु तत्त्व की कुछ सीमा तक उपेक्षा की है। वैसे सैद्धांतिक स्तर पर अज्ञेय मानते हैं कि 'शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित है, और अर्थवान शब्द का संवेदन (संप्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना युग-संपृक्ति के।'[3] परन्तु उनके काव्य में युग सम्पर्क और 'जीवन की सारी समस्याएँ सिमट कर कवि अथवा कलाकार की सृजन-प्रक्रिया की समस्याएँ रह गयी'[4] प्रतीत होती हैं। कवि के अनुसार जितना ही हम सृजन करते है उतना ही हम समृद्ध होते हैं—

---

१ देवराज माध्यम (मासिक) प्रयाग दिसम्बर—१९६५।

२ मिश्र, विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय, पृष्ठ २२, दिल्ली (प्र० व० अ०)

३ तार सप्तक, (द्वि० सं०), पृष्ठ ३०६, वाराणसी—१९६६।

४ केदारनाथसिंह, धर्मयुग (साप्ताहिक) पृष्ठ १७, ४ जुलाई, १९६५।

कहीं बड़े गहरे में
सभी स्वर हैं नियम, सभी सर्जन केवल
आँचल पसार कर लेना।'[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सृजन-प्रक्रिया एवं अर्थवान शब्द की खोज के फलस्वरूप अज्ञेय ने 'अनेकानेक व्यंजक शब्दों के आविष्कार किए हैं। नूतन शब्दों के आविष्कार में, जो कवि जितनी दूर तक जा सकता है, वह उतनी ही गहन भावराशि का स्रष्टा बन सकता है। कभी-कभी नए शब्दों की खोज में कवि मूल-भाव-चेतना को विस्मृत भी कर जाता है। अज्ञेय जी की नई काव्य-सृष्टि में इस प्रकार का विस्मरण दोष कहीं-कहीं है।........उनके नए शब्द उपयुक्त भाव चेतना को जगाने में ही समर्थ हुए हैं।'[2] अज्ञेय ने जितना अधिक नवीन शब्दों का आविष्कार किया है, उससे कहीं अधिक पुराने शब्दों का परिष्कार किया है, और उनमें नई अर्थवत्ता भर दी है।

वस्तुसत्ता एवं जीवन-वैविध्य से सीधे जूझने की अपेक्षा अब अज्ञेय ने, अपने काव्य को आत्म-विसर्जन या समर्पण तक सीमित कर लिया है। वह 'ममेतर' के प्रेम में आपाद-मस्तक डूबे-उतराए और द्रवित-दीप्त रहते हैं। इसकी अपनी महत्ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस दृष्टि से अज्ञेय के समकक्ष कोई नया कवि नहीं ठहरता। पर स्वयं अज्ञेय के ही मध्यवर्ती काव्य की वस्तुसत्ता, प्रेम की अमरता का मोह भंग, तथा 'सच्चे साक्ष्य' का आग्रह आदि जो भाव 'माहीवाल से'[3] आदि कविताओं में थे, अब लगभग उपेक्षित हैं।

---

१ आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ३२, वाराणसी—१९६१।
२ वाजपेयी, नन्ददुलारे, धर्मयुग, पृष्ठ १९, ६ अगस्त, १९६७।
३ शान्त हो
काल को भी समय थोड़ा चाहिए।
जो घड़े—कच्चे, अपात्र। डुबा गये मँझधार,
वेरी सोहनी को चन्द्र भागा की उछलती छालियों में
उन्हीं में से किसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा।
औ' कहेगा 'आह कितनी तृप्ति।'
क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर तो मत समझ
वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के संस्मरण के
जान ले वह दीमकों की टोह में है।
कवि जनोचित न हो चाहे यही सच्चा, साक्ष्य है:—
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना। (हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ४५)।

तथ्य-स्वीकार, यथार्थ के साक्षात्कार एवं बोध का भी अपना ही उत्कर्ष है। पुराने आदर्शों की अपर्याप्तता और इयता का अतिक्रमण करता हुआ नव-यथार्थ, अपनी जीवन-शक्ति के कारण अभिभूत करता है और पुनः नए तथ्याश्रित आदर्शों को जन्म देता है। अस्तु।

५. कतिपय उदात्त कविताएँ—इस सीमा-स्वीकृति के पश्चात्, अज्ञेय-काव्य के औदात्य पर उनकी कतिपय श्रेष्ठ एवं बहुचर्चित रचनाओं के माध्यम से, विचार किया जा सकता है। सर्व-प्रथम उनकी अबतक की श्रेष्ठतम कविता-पुस्तक 'आंगन के पार द्वार' की कतिपय कविताएँ ली जा सकती हैं। इस पुस्तक के तीन खण्ड हैं—'अन्तः सलिला', 'चक्रान्तशिला' और 'असाध्यवीणा'। 'अन्तः सलिला' खण्ड की दूसरी कविता उदात्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कविता (बना दे चितेरे')[1] में उत्कट जिजीविषा का उत्कर्षक रूपायन है। कवि चित्रकार से एक चित्र बनाने का आग्रह करता है। उसी का शब्द-चित्र इस कविता में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि (आधुनिक) जीवन के सारे दबाव, तनाव समग्रता में महसूस किए जा सकते हैं। नीचे और ऊपर अगाध नीलिमा, सागर और आकाश दोनों में, शतशत तरंगोर्मियों का उद्वेलन, खिचाव, मरोड़, गतियाँ, प्रवाह और अखण्ड स्थिरता है। दोनों अपनी असीमता और शक्तिमत्ता के आवेग से अभिभूत करने वाले हैं। पर उनसे भी कहीं अधिक उत्कर्षक है, वह उछली हुई मछली, जिसकी मरोड़ी हुई देहवल्ली में उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है। सागर इस कविता में भी जीवन का प्रतीक है, पर यह मध्यकालीन कवियों का 'भवसागर' नहीं है, जिससे बचने के लिए या उद्धार के लिए प्रभु के प्रति कातर-निवेदन किया जा रहा है। इस कविता का सागर अप्रतिम है—

> विस्तीर्ण, प्रगाढ़, नीला,
> ऊपर हलचल से भरा,
> पवन के थपेड़ों में आहत,
> शत शत तरंगों से उद्वेलित।
> फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
> अपार शोभा लिए हुए,
> चंचल, उत्सृष्ट,
> जैसे जीवन।

---

१ आंगन के पार द्वार, पृष्ठ १२–१४, वाराणसी—१९६१।

'भीतर जागा दाता'[1] शीर्षक कविता में प्रकृति के अगणित चित्रों के माध्यम से जीवन सौन्दर्य का एवं आत्म-विसर्जन के 'मतियायेपन' का उल्लास-पूर्ण चित्रण है। प्राचीन भारतीय-साहित्य में प्रतिफलित उदात्त-चिन्तन का जीवनानन्द, जो (विशेषतः) कालिदास के काव्य का, भी मूल प्रतिपाद्य है, (और आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम-चरण, छायावाद में जयशंकर प्रसाद ने, आनन्दवाद के रूप में, जिसे कामायनी में प्रतिष्ठित करना चाहा है) वही जीवनानन्द अज्ञेय ने आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन की अपूर्णता और विकलता के समानान्तर इन कविताओं में प्रस्तुत किया है।[2] इन कविताओं के बिम्ब-विधान में परिष्कार एवं सहज-प्रसन्न भाव द्योतित होता है। 'भीतर जागा दाता' शीर्षक कविता में कुछ बिम्ब जहाँ पुराने संस्कारों को जगाते हैं, वहाँ नए परिचय का सा आनन्द भी देते हैं। 'मखमली चादर पर मचलती किरण-अप्सराओं का भार-हीन पैरों से थिरकना', 'जल पर आलते की छाप छोड़ना', 'घाटी की पगडण्डी का लजा कर ओट देना और रह न सकना तथा फिर उझकना', 'आकाश के भाल पर', 'जयतिलक आँकना', 'हरी भरी धरती का', 'सवत्सा काम-धेनु' के रूप में प्रस्तुत होना आदि इसी प्रकार के बिम्ब हैं। 'मेरे भीतर जागा दाता' पंक्ति का अपना सन्दर्भ है। 'अपने-अपने अजनबी' की 'सेल्मा' 'योके' से कहती है—"जो हमारे भीतर नहीं है, वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं—कैसे देना चाह सकते हैं? 'खुली, 'निखरी हुई' स्निग्ध हँसती धूप, मैं बाहर उसकी कल्पना करती हूँ तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है और मैं सोच सकती हूँ कि मैं उसे औरों को दे सकती हूँ।"[3] यहाँ यह याद रखना उपादेय है कि 'आँगन के पार द्वार' और 'अपने-अपने' अजनबी' (उपन्यास) एक ही समय के अन्तर्मन्थन एवं चिन्तन की रचनाएँ हैं। प्रस्तुत कविता में यही चिन्तन प्रतिफलित है—

> यह रूप जो केवल मैंने देखा,
> यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया
> सब तुम्हें दिया।

---

१ आँगन के पार द्वार, पृष्ठ १५-१७, वाराणसी—१९६१।

२ पाश्चात्य-चिन्तक आधुनिक जीवन की असफलता और विकलता से बुरी तरह पीड़ित है। इसका एक उदाहरण पिछले वर्ष (नवम्बर १९६८) भारत में मैक्सिको के राजदूत बुद्धिजीवी पाज़ को त्यागपत्र और धर्मयुग में प्रकाशित एक विशेष भेंट (१७ नवम्बर, १९६८) के रूप में देखा जा सकता है।—लेखक।

३ "अपने अपने अजनबी" पृष्ठ ३७, वाराणसी—१९६१।

एक स्मृति से मन पूत हो आया।
एक श्रद्धा से आहूत प्राणों ने गाया।
एक प्यार का ज्वार दुर्निवार बढ़ आया।
मैं डूबा नहीं, उमड़ा-उतराया,
फिर भीतर
दाता खिल आया।[1]

यहाँ प्रकृति के विभिन्न रूपों (दृश्यों) का कवि के भाव में परिणत होना और पुनः उस 'अनुभव अद्वितीय' का (सब कुछ का) रूप ग्रहण के माध्यम से 'ममेतर' को दिया जाना, उदात्त के 'दातृत्व' गुण का अप्रतिम उदाहरण है।

इस पुस्तक के 'चक्रान्त-शिला' शीर्षक 'खण्ड में एक ही विचार से सम्बद्ध छोटी बड़ी सत्ताईस कविताएँ हैं। प्रायः सभी कविताएँ एक-दूसरे को अनायास आलोकित करती चलती हैं।[2] इनमें मौन के माध्यम से विराट से जुड़ने की प्रक्रिया है। कभी कवि 'स्व' को विराट के सन्दर्भ में खोजता है और कभी 'स्व' से विराट को सन्दर्भ देता है।[3] विराट का अर्थ यहाँ, पार्थिव और अपार्थिव-समग्र की तथता' से है। 'महाशून्य' प्रस्तुत सन्दर्भ में 'अभाव' का नहीं 'भावाभाव' के 'घेराव' का सूचक है। इसीलिए कवि निःशंक भाव से कह सकता है—

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को बरजता हूँ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है :
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ।'[4]

---

१ आँगन के पार द्वार, पृष्ठ १६, वाराणसी—१६६१।

२ चतुर्वेदी, रामस्वरूप अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृष्ठ २४, —वाराणसी—१६६८।

३ कुंवर नारायण, कल्पना, जुलाई—१६६३।

४ आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ५८, वाराणसी—१६६१।

'महामौन' के माध्यम से विराट् से जुड़ना, समग्र की 'तथ्ता' में अनुस्यूत होना है—

पर सब से अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ, मौन हूँ—
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझ को विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है,
जो सब को समोता है।
मौन का ही सूत्र
किसी अर्थ को मिटाए बिना
सारे शब्द क्रमागत
सुमिरनी में पिरोता है।[1]

'किसी अर्थ को मिटाए बिना' समग्र की तद्वत्ता के साथ तदाकारता, समर्पण का उत्कृष्ट रूप है, जो अज्ञेय की इन कविताओं का प्रमुख स्वर है। यह स्थिति 'निष्क्रियता' का पर्याय नहीं है, और न ही यह 'पलायन' है। यह तो निरन्तर संघर्ष और तनाव की स्थिति है, जिसे कबीर के शब्दों में 'रैन दिन जूझना' और 'देह पर्यन्त का काम' कहा जा सकता है। ऐसा ही कवि (या व्यक्ति) आश्वस्त भाव से कह सकता है—

व्यथा सब की,
निविड़तम एकान्त
मेरा।
कलुष सब का
स्वेच्छया आहूत,
सद्यःधौत अन्तःपूत
बलि मेरी।
ध्वान्त इस अनसुलझ संसृति के
सकल दौर्बल्य का,
शक्ति तेरे तीक्ष्णतम, निर्मम, अमोघ
प्रकाश-सायक को।[2]

---

१ वही०, पृष्ठ ४०।
२ आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ६६, वाराणसी—१९६१।

इस अनसुलभ संसृति की सकल-दुर्बलता के अन्धकार से जूझने की प्रकाश सायक की शक्ति में जिसका दृढ़ विश्वास है, वही व्यक्ति विनम्रता से कह सकता है—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आंगन में
सहमा-सा रख दिया गया।[1]

इस संग्रह के तीसरे खण्ड में एकमात्र कविता है—'असाध्य वीणा'। यह कविता अज्ञेय की अबतक प्रकाशित कविताओं में सब से लम्बी है। किसी ने इसे मात्र 'शब्द शिल्प' कहा है, किसी ने इसे 'मसीही जीवन-दर्शन की उतरन' कहा है,[2] किसी ने 'सारी वर्णन-चातुरी, नाटकीयता और शब्द-प्रयोग सम्बन्धी सतर्कता के बावजूद, इसे आधुनिक परिवेश के साथ एक समझौते' का सूचक कहा है,[3] एक विद्वान् ने इसमें 'नयी हिन्दी कविता के एक दौर की समाप्ति'[4] देखी है और एक अन्य विद्वान् का विचार है कि 'असाध्य वीणा' में कवि ने जीवन में एक नई संगति उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो हमारे लिए एक नए आरम्भ की स्थिति हो सकती है।[5] अभिप्राय यह है कि इस बहुचर्चित कृति पर विभिन्न विद्वान् विभिन्न और एकदम विरोधी मत रखते हैं।

वस्तुतः 'असाध्यवीणा' अज्ञेय के कवि-कर्म एवं चिन्तन के अद्यावधि-अर्जित उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। एक छोटे से आस्थानक के सहारे, इस कविता में अज्ञेय ने प्रातिभ-कर्म की प्रकृति, प्रक्रिया एवं प्रभाव का रचनात्मक रूपायन किया है। सामान्य शिल्पी अन्वेषित क्षेत्रों को 'निर्दोष' बनाने के प्रयास में रत रहते हैं। 'असाध्य' की साधना, ऐसे व्यक्तियों का क्षेत्र नहीं होता। इसलिए वे 'अन-अन्वेषित' या 'जीवन के अनकहे सत्य के' क्षेत्र में हार जाते हैं, उनकी विद्या अकारथ और दर्प चूर हो जाता है।[6] दूसरी

---

१ वही०, पृष्ठ ७२।
२ मिश्र, विद्यानिवास, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय, पृष्ठ ३१, —दिल्ली, (प्र० व० अ०)।
३ नामवरसिंह, कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ १२०, दिल्ली—१९६८।
४ केदारनाथ सिंह, धर्मयुग, ४ जुलाई, १९६५।
५ चतुर्वेदी, रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृष्ठ ३, वाराणसी—१९६८।
६ हार गये सब जाने माने कलावन्त,
सब की विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी, आज तक इसे न साध सका। —आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ७६।

और प्रातिभ व्यक्ति आजीवन शिष्य और साधक रहता है। 'अनकहे सत्य का ध्यान' मात्र उसे गद्गद्-विह्वल और अभिभूत किए रहता है। उसकी साधना निःशेष समर्पण में या साध्य का हो लेने में! । सामान्य-व्यक्ति सभा को सम्बोधित करता है, उसकी करतल-ध्वनि का दास होता है, परन्तु प्रातिभ-व्यक्ति साध्य के साथ नीरव 'एकालाप' में 'डूब गया' रहता है। अकेलेपन की अतल गहराई में जितना ही नीचे वह उतरता है, उतना ही ऊँचा वह कलाकार सिद्ध होता है। उसकी इस तन्मयता से जो 'स्वर-शिशु किलक'[1] उठते हैं, उससे विभिन्न स्तर एवं स्थितियों के सामाजिक एक साथ डूबते एवं तिरते हैं, और 'सब की इयता अलग-अलग 'जाग' उठती है।[2] अपने-अपने स्तर पर यह आत्म-साक्षात्कार का 'अद्वितीय अनुभव', यह 'डूबना' और 'तिरना', आत्मोपलब्धि एवं आत्मोत्तीर्णता की उत्कर्षक स्थितियाँ हैं। प्रातिभ-रचना से उत्पन्न होने वाला यह 'आत्मचैतन्य' उदात्त प्रभाव है।

यहाँ 'महाशून्य' से अभिप्राय 'पार्थिव-अपार्थिव' 'सब-कुछ की तथता' से है। महामौन निःशेष समर्पण का वह उत्कर्षक भाव है, जो शब्दहीन सब में गाता है।[3] श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक लिखा है कि 'इस रचना के माध्यम से कवि अस्तित्ववादी' 'न-कुछ' के आतंक के समक्ष 'सब-कुछ' की प्रीतिकर

---

१ वही०, पृष्ठ ८४।

२ वही०, पृष्ठ ८६।

३ श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था, स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित अप्रमेय
जो शब्द हीन
सब में गाता है। —आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ८७, वाराणसी—१९६१।

सत्ता स्थापित करने का यत्न करता है। 'न-कुछ' से भयभीत हुआ जा सकता है, जबकि 'सब-कुछ' को सब कुछ सौंपा जा सकता है।[1]

६. युग सन्दर्भ—इस प्रकार अज्ञेय का काव्य न परम्परा में पलायन है, न परम्परा से पलायन है; अपितु वह वर्तमान की चुनौती से जूझने के लिए भारतीय-चिन्तन के अर्थवान् पक्ष का सुन्दर-सशक्त पुनःसृजन है। यह ठीक है कि अज्ञेय-काव्य में युग के संघर्षों एवं जीवन की जटिलताओं का स्थूल या प्रत्यक्ष-चित्रण नहीं है, परन्तु संवेदना के स्तर पर उसमें युग-जीवन के सारे तनाव महसूस किए जा सकते हैं। कवि का यही साध्य है कि मनुष्य की सृजन शीलता और व्यक्तित्व बने रहें। 'मनुष्य न यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य (व्यवस्था) से।'[2]

अज्ञेय के चिन्तन की इसी सर्वव्यापी अन्विति का यह परिणाम है कि उसके अनुसार (क) कवि का आत्म-सत्य या व्यक्तिबद्ध सत्य उतना ही काव्योत्कर्षक होगा जितना ही व्यापक वह हो सके, (ख) व्यष्टि की अद्वितीयता इसी बात में है कि वह समष्टि के लिए स्वेच्छया विसर्जित हो, (ग) शब्द की अर्थवत्ता इस बात में है कि वह ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भों का वाहक हो, क्योंकि वह संवेद्य (सम्प्रेष्य) हो ही नहीं सकता बिना युग संपृक्ति के।[3]

---

१ चतुर्वेदी, रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृष्ठ ३१, —वाराणसी—१९६१।

२ वही०, " ३०, " " १९६८।

३ (क) तारसप्तक, (द्वि०स०), पृ० २७५, वाराणसी—१९६६।

(ख) यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता,
पर, इसको भी पंक्ति को दे दो—(बावरा अहेरी)
अथवा
एकाकियों की राह ?
वह भी है
मगर तब जब कि वह
सब के लिए छोड़ी गयी हो।
—(अरी ओ करुणा प्रभामय)

(ग) तारसप्तक (द्वि०सं०) पृष्ठ ३०९।

७. **अभिव्यक्ति पक्ष**—जहाँ तक अज्ञेय-काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष या काव्य-भाषा की उत्कृष्टता का प्रश्न है, वह लगभग निर्विवाद है। कुछ विद्वानों द्वारा अज्ञेय-काव्य को मात्र शब्द-शिल्प कह कर टालने का प्रयास भी प्रकारान्तर से शिल्प पक्ष की उपलब्धि का सूचक है। अज्ञेय स्वयं भाषा (और भाषा के अवयव शब्द) की महत्ता से सुपरिचित हैं। वह 'अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि' मानते हैं।[1]

अज्ञेय का प्रारम्भिक काव्य या 'इत्यलम्' (१९४६) तक की कविताएं (भाव और) भाषा की दृष्टि से ऊबड़खाबड़ हैं। परन्तु 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९) (जिसे 'नयी कविता' का पहला कविता संग्रह कहा जाता है) से लेकर 'आँगन के पार द्वार' (१९६१) तक वह इतना परिष्कृत शब्द-प्रयोग करने लगे हैं कि 'सहसा विश्वास नहीं होता कि दोनों प्रकार की रचनाएँ एक ही कवि की लिखी हुई हैं।'[2]

अज्ञेय की काव्य भाषा में एक साथ तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का अपूर्व मिश्रण-मिलता है। एक ओर उदीषा, उदग्र, उत्सृष्ट, तड़िल्लता, जल्पक, अवलिप्त, अप्रसूत, असन्धीत, आस्पर्द्धा, पर्युत्सुक, पल्लवन, क्षुप आदि तत्सम शब्द हैं, तो दूसरी ओर अंजुरी, वट्ठली, सोंधी, खुदबुद, त्रिसूल, घिग्घी, छौने, छुग्रन, ओट, अकारथ आदि तद्भव और देशज शब्द हैं। फिर भी समग्रता में अज्ञेय की काव्य भाषा में परिष्कार, प्रसन्नता और सहज-गरिमा है। जिस प्रकार अज्ञेय 'मानव-मात्र को अभिजात[3] मानते हैं। उसी प्रकार उनके काव्य में शब्द-मात्र 'अभिजात' एवं गरिमामय है। एक विद्वान् के अनुसार 'वस्तु के धरातल पर अज्ञेय में जो सीमितता का भाव लगता है, उसकी कुछ क्षतिपूर्ति उनके द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दावली में हो जाती है।[4] वास्तव में अज्ञेय का आग्रह उपयुक्त शब्द के चुनाव पर है, उसका मूल या स्रोत चाहे जो भी हो, कबीर की भाषा में अज्ञेय के लिये शब्दों की 'जाति' नहीं 'ज्ञान' महत्त्वपूर्ण है। (जात न पूछो साध की, पूछ लीजियो ज्ञान)

---

१ आत्मनेपद, पृष्ठ २४०, वाराणसी—१९६०।
२ चतुर्वेदी, रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० ४४,
—वाराणसी—१९६८।
३ एक बूँद सहसा उछली, पृष्ठ १५, वाराणसी—१९६०।
४ चतुर्वेदी, रामस्वरूप, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० ५४
—वाराणसी—१९६८।

अज्ञेय-काव्य में सामान्य जीवन से लिये गये विम्ब भी इसी दृष्टि के सूचक हैं। उनमें जीवनानन्द, सहज प्रसन्नता एवं ताजगी का भाव है। जैसे—'घर-कुटीर का दिया' 'उछली हुई मछली' 'घाटी की पगडण्डी लजाई और ओट हुई,' 'मेडों पर छाग-छौने ये किलोलते', 'सूने गलियारों की उदासी, आक्षितिज, लहरीला मगर बेटूट सूखी रेत का विस्तार', 'सन्नाटे की कनबतियाँ 'पत्तियों पर वर्षा बून्दों की पट पट', 'रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप,' 'घोड़े की टाप', 'थाप भैंसों के भारी-खुर की,' 'बटुली में अन्न की सौंधी खुद बुद' आदि ।

अज्ञेय की समर्थ एवं समृद्ध काव्य-भाषा के पीछे उनकी जीवन-भर की साधता है। इसीलिये 'कथ्य' यहाँ 'कथन' के साथ-साथ सृष्ट हुआ है। अज्ञेय के लिये भाषा मात्र अभिव्यक्ति नहीं, अपितु व्यक्तित्व के अन्वेषण, ऐतिहासिक-सामाजिक अर्थ की संपृक्ति एवं सत्य के साक्षात्कार का उपकरण है। भाषा के इस प्रश्न के प्रति इतनी सचेतता बहुत कम कवियों में होती है।

ऊपर विवेचित कविताओं के अतिरिक्त, उदात्त की दृष्टि से अज्ञेय की अन्य अनेक कवितायें भी महत्त्वपूर्ण हैं।' जैसे **'आँगन के पार द्वार'**[1] की:—'अन्तः-सलिला' (पृष्ठ ३४), चक्रान्तशिला खण्ड की ८वीं (पृष्ठ ४७), १०वीं (पृष्ठ ४६) ,१२वीं (पृष्ठ ५२–५३), १६वीं (पृष्ठ ५७) और २४वीं (पृ० ६७) आदि। **'अरी ओ करुणा प्रभामय'**[2] की:—'हम कृती नहीं हैं (पृ० १७–१८),इशारे जिन्दगी के (पृष्ठ ३२–३४), नया कवि: आत्मोपदेश (पृ०–५०–५२), चुपचाप (पृष्ठ ७७), दीप पत्थर की (पृ० ८३) साम्राज्ञी का नैवेद्य दान (पृ० ८४–८५) और मैंने देखा एक बूँद' (पृ०–१४०) आदि। अन्य सग्रहों की भी कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे 'इन्द्र धनु' रौंदे हुए' की 'टेसू' (पृ० २५) आदि।[3]

अभिप्राय यह है कि अज्ञेय-काव्य में स्तर एवं संख्या दोनों ही दृष्टियों से ऐसी और इतनी उत्कृष्ट रचनाएँ मिलती हैं कि इन्हें सहज ही नयी कविता की अन्यतम उपलब्धि कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध

१. **अज्ञेय और मुक्तिबोध**—अज्ञेय के पश्चात् प्रभाव एवं महत्ता की दृष्टि से, नयी कविता के कवियों में 'तार सप्तक' के ही एक अन्य कवि मुक्ति-

---

१ आँगन के पार द्वार, वाराणसी—१९६१।

२ अरी ओ करुणा प्रभामय, वाराणसी—१९५४।

३ इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, प्रयाग—१९५७।

बोध का नाम आता है। बड़ी देर तक जहाँ, अज्ञेय प्रारम्भ से ही सब प्रकार की चर्चा एवं वाद-प्रतिवाद का केन्द्र बने और संघर्परत रहे, वहाँ मुक्तिबोध लगभग उपेक्षित एवं अभावों से जूझते रहे। एक ने व्यक्ति के सन्दर्भ में निष्ठा एवं एकाग्रता से 'आत्मान्वेषण' किया और 'अपने-माध्यम से भीड़ को, समाज को, व्यक्ति को, जो भी ममेतर' है, जानने की'[1] कोशिश की, दूसरे ने परिवेश की पेचीदगी, भयावहता, बिखराव, घिराव एवं निष्ठुरता आदि से 'निजता' को सुरक्षित रखने का दृढ़ता और ईमानदारी से संघर्ष किया। एक ने 'आत्मोपलब्धि के माध्यम से 'आत्म विसर्जन' में जीवन की चरितार्थता अनुभव की, दूसरे ने 'आत्म विसर्जन' (महत्त्वपूर्ण मानव-उद्देश्य से स्वहित का योग[2]) के माध्यम से 'आत्मपूर्ति' को उपलब्धि माना। अज्ञेय की कविताएँ सामान्यतः छोटी-छोटी, परिष्कृत, पूर्ण तराशे-सँवारे हीरे की कणी-सी है और मुक्तिबोध की कविताएँ लम्बी-लम्बी, रूखी, खुरदुरी, अधूरी, अनगढ़ शिला लग्न-रत्न-सी हैं। अज्ञेय में भीतरी तनाव और ऊपर से अन्विति, सामंजस्य एवं प्रसन्नता है, तथा मुक्तिबोध में बाहर-भीतर दोनों ओर तनाव और तनाव-जन्य बिखराव एवं वैषम्य है, पर भीतर ही गहराई में एक अन्विति-सूत्रभी है। अज्ञेय में असामान्यता का आभिजात्य है और मुक्तिबोध में सामान्य जन की संकुलता है पर अपनी-अपनी जगह दोनों असाधारण हैं। दोनों की श्रेष्ठ कविताओं में अपनी-अपनी तरह का उत्कर्ष है। दोनों 'आत्म साक्षात्कार' के कवि हैं। अतः एक को उठाने के लिये दूसरे को गिराना विवेक की अपेक्षा पूर्वाग्रह या पक्षधरता का परिचय देना है।

अज्ञेय का काव्य छायावाद काल से आगे का कदम होकर भी जीवनानन्द में प्रसाद की याद दिलवाता है, शक्ति-क्षमता में निराला की, शब्द-शिल्प में पन्त की और रहस्य-प्रियता में महादेवी की। परन्तु अज्ञेय ने इन सब विशेषताओं को कृच्छ्र-साधना द्वारा, ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चल कर, पाश्चात्य-चिन्तन की नवीनतम धाराओं का अवगाहन करके स्वयमर्जित एवं उपलब्ध किया है। इसमें छायावादियों की भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का आग्रह है। अतः अज्ञेय-काव्य को 'छायावाद का उच्छिष्ट' या मसीही-दर्शन

---

१ अज्ञेय "कितनी नावों में कितनी बार" (फ्लैप), वाराणसी—१९६७।
२ मुक्तिबोध, माध्यम, पृष्ठ २९, प्रयाग, नवम्बर—१९६४।
३ माध्यम, पृष्ठ ७८, प्रयाग, दिसम्बर १९६४।

की उतरन 'कहना न्याय संगत नहीं' इनमें ऊपरी, रूपसाम्य हो सकता है, पर स्वरूप-भेद निश्चित है। छायावादी काव्य सामन्तवादी मूल्यों के विरुद्ध मानवतावादी मूल्यों का काव्य है और अज्ञेय का काव्य यान्त्रिकता और अमानवीयता के विरुद्ध, कुण्ठा और समूहवाद के विरुद्ध, 'व्यक्तित्व' की प्रतिष्ठा का काव्य है।

२. **मुक्तिबोध का काव्य (चिन्तनपक्ष)**—मुक्तिबोध का काव्य भी, अधिक सामान्य-भूमि पर, 'व्यक्तित्व' की प्रतिष्ठा का ही काव्य है। अज्ञेय द्वारा मुक्तिबोध के लिए 'आत्मा का मित्र' और "आत्मान्वेषण का कवि" कहा जाना 'औपचारिकता और आग्रह' का परिणाम नहीं। कमलेश्वर के अनुसार (नए) कवियों में मुक्तिबोध से ज्यादा गहन ऐकान्तिक अनुभूतियों की रचनाएँ शायद किसी अन्य कवि के पास नहीं हैं।'[1] परन्तु अज्ञेय का काव्य जहाँ अमूर्त है, और चिन्तन के धरातल पर सारे समाधान प्राप्त कर जीवनानन्द को प्रतिष्ठित करने लगा है, वहाँ मुक्तिबोध का काव्य ठोस, निर्मम, भयावह यथार्थ में घिरे 'आत्मचेतस् **व्यक्ति** की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है।'[2] यहाँ 'व्यक्ति' शब्द संकीर्ण 'व्यक्तिवादी' अर्थ की अपेक्षा 'व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा' के अर्थ में प्रयुक्त है। वैसे मुक्तिबोध स्वयं 'व्यक्ति' के 'व्यक्तिवादी' होने के कारण के प्रति भी सचेत हैं। अपनी अन्तिम साहित्यिक भेंट में नयी कविता में वैयक्तिकता के बारे में प्रश्न किए जाने पर मुक्तिबोध ने इसे स्वाभाविक बात कहा और बताया कि "जब मानव को बाहर-भीतर सब ओर से, दबाया जाता है, उसका दमन किया जाता है, '**स्वतन्त्र-चेता** की मानवोचित बातों को असंगत माना जाता है, तो व्यक्ति व्यक्तिवादी हो जाता है।"[3]

मुक्तिबोध के विवेचन में '**स्वतन्त्रता**' शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः मुक्तिबोध की दृष्टि मार्क्सवादी-चिन्तन से प्रभावित है, परन्तु उन्हें वाद-विशेष से बाँध कर नहीं समझा जा सकता। वह साहित्य में पूर्ण मानव की स्थापना में विश्वास करते थे। उनके चिन्तन-गत औदात्य को समझने के लिए पूर्ण मानव के सन्दर्भ में उनका यह कथन महत्त्वपूर्ण है—'**मानव-मूल्यों पर आस्था** बढ़ने पर ही काव्य में मानव के समस्त पहलुओं का चित्रण होगा। इसके लिए

---

१ कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, पृष्ठ ८७–८८, दिल्ली—१९६६।

२ मुक्तिबोध; नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२, —नागपुर—१९६४।

३ माध्यम, पृष्ठ ३२, प्रयाग, सितम्बर, १९६६।

समग्र मानव के प्रति, समग्र यथार्थ के प्रति, समग्र अन्तर्रात्मा के प्रति अनुराग रहना आवश्यक है और इस अनुराग में सम्पूर्ण विश्व शामिल है।'[1] एक अन्य स्थान पर वह लिखते हैं—'विश्व दृष्टि का विकास तबतक नहीं होगा जबतक हम मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में आस्था न रखें और आध्यात्मिक रूप से उससे संबद्ध न हो जाएँ।'[2] वह आगे लिखते हैं—'लेखक जितना अधिक अनुभव सम्पन्न, विवेकशील और वैविध्य-पूर्ण प्रसंगों का भोक्ता रहा होगा, जीवन-विस्तारों के प्रति जितनी ही अधिक उत्सुकता, जिज्ञासा और सर्वाश्लेपी भावना उसमें रहेगी, उसमें उतनी ही अधिक उदात्तता, गम्भीरता और विशालता आएगी। यह पुस्तकी आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण नहीं आएगा, वरन् साधारण जीवन में साधारण मानव की व्यक्त उदार हृदय-शक्तियों से, उदात्त व्यक्तित्व के धारणकर्त्ता सामान्य मनुष्यों से, अति लघु कण में व्यक्त सूर्य विम्ब की अनुभूति से, मामूली लोगों की बेमामूली खूबसूरती से, मुख मण्डल के वास्तविक चन्द्र स्मित से प्राप्त होगी।'[3]

"अतिलघु कण में व्यक्त सूर्य विम्ब की अनुभूति" को प्यार करने वाला यह कवि, अपनी ही तरह के, औदात्य का स्रष्टा है। नयी कविता के ढेरों ढेर 'विना चेहरे के" कवियों में मुक्तिबोध नितान्त मौलिक, विशिष्ट और समर्थ व्यक्तित्व का स्वामी है।

३. मुक्तिबोध की कला-दृष्टि—मुक्तिबोध की अपनी कला-दृष्टि के अनुसार कवि को तीन क्षेत्रों में एक साथ संघर्ष करना है। प्रथम—तत्त्व के लिए संघर्ष (अर्थात् अपने वास्तविक जीवनानुभव को सन्दर्भ सहित व्यक्त करने के लिए उचित विपय-संकलन), द्वितीय—अभिव्यक्ति सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, तृतीय—दृष्टि विकास के लिये संघर्ष।[4] इन्हीं दृष्टियों से मुक्तिबोध के काव्य का विवेचन या उनके काव्य-संसार का अन्तर्दर्शन उपयुक्त हो सकता है।

(क) तत्त्व के लिए संघर्ष, वाह्य संघर्ष एवं आन्तरिक संघर्ष दोनों से सम्बद्ध है। इसे ही कवि के शब्दों में 'ईमानदारी' कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय है 'आत्मपरक और वस्तुपरक खरी-खरी, खड़ी-खड़ी, वात, जो एकदम

---

१ माध्यम, पृष्ठ ३२, प्रयाग, सितम्बर १९६६।

२ मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ० २१,
—नागपुर—१९६४।

३ वही०, पृ० १३७।

४ मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ, २१,
—नागपुर—१९६४।

वास्तवाधारित हो और वास्तव का उद्घाटन कर दे।'[1] यह सब बहुत ही कठिन काम है, क्योंकि आत्म-परक कहते समय—

अपने मस्तिष्क के पीछे अकेले में
गहरे अकेले में
जिन्दगी के गन्दे न-कहे-जाने वाले अनुभवों के ढेर का
भयंकर विशालाकार प्रतिरूप ।।
स्याह ।
देख कर चिहुँकते हैं प्राण,
डर जाते हैं ।[2]

वास्तविक 'आत्म-साक्षात्कार' ऐसी ही असामान्य स्थिति है, जहाँ 'प्राणों का एक साथ चिहुँकना और डरना' अपरिचित-अज्ञात तदपि आकर्षक एवं चुनौती भरे 'तथ्य' को द्योतित करता है। दूसरी ओर 'वस्तु-परकता' में कवि को 'कदम-कदम पर' चौराहे मिलते हैं—

एक पैर रखता हूँ
कि सौ राहें फूटतीं
व मैं उन सब पर से गुज़रना चाहता हूँ,

कवि का जीवन-वैविध्य के प्रति ममत्व, इसके बाद की इसी कविता की पंक्तियों में व्यंजित होता है—

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है,
हर-एक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदा-नीरा है
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ,
इस तरह खुद ही को दिए-दिए फिरता हूँ।'[3]

जहाँ कवि को अलग-अलग प्रत्येक व्यक्ति 'अधीर आत्मा' और 'महाकाव्य की पीड़ा लिए हुए' प्रतीत होता है, वहाँ वास्तव में जीवन-यथार्थ अभाव,

---

१ वही० ।

२ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ ७५, वाराणसी—१९६४ ।

३ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ ७२–७३, वाराणसी—१९६४ ।

उपवास, दैन्य, महा-अपमान एवं क्षोभ से भरा हुआ है। मध्यवर्ग की सारी पीड़ा और विषमता को ढोने वाले इस कवि को—

भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का
दीखता पहाड़........
स्याह।[1]

इस प्रकार भीतर-बाहर 'अन्धेरे' से घिरा और उससे जूझने वाला यह कवि जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की 'अधीर आत्मा' को, मनुष्य मात्र को प्यार करता है, वहीं सभ्यता के चेहरे पर सफेद गुलाबी पाउडर में छिपे बड़े-बड़े चेचक के दाग भी देखता है—

संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के
अन्दर का वासी वह
नग्न अति बर्बर देह
सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है
एक्स-रे की फोटो में रोग-जीर्ण
रहस्यमयी अस्थियों के चित्र-सा विचित्र और भयानक।[2]

इस तरह मुक्तिबोध की कविताओं का तत्त्व तीन सूत्रों से बना है। एक—'अपने मस्तिष्क के पीछे अकेले में गन्दे न-कहे-जाने वाले अनुभवों का ढेर, दो—प्रत्येक वाणी की महाकाव्य-पीड़ा और तीन—बर्बर, रहस्यमय भयानक एवं रोग-जीर्ण आधुनिकतम संस्कृति।

(ख) मुक्तिबोध के अनुसार कवि का दूसरा संघर्ष अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का है। पूर्व-अनभिव्यक्त तत्त्व या 'जीवन-यथार्थ' को अभिव्यक्ति देना बड़ी ही कृच्छ साधना का काम है। इसके लिए कवि 'फैंटेसी' का सहारा लेता है। कवि के अनुसार कविता में फैंटेसी के भीतर का मर्म—जिसमें एक उद्देश्य है, एक पीड़ा है और एक दिशा है—अनेक जीवनानुभवों से संवधित और पुष्ट होकर प्रकट होना चाहता है।' मुक्तिबोध की तमाम कविताओं में काव्य-प्रक्रिया का संघर्ष और आत्म-संघर्ष एक साथ देखा जा सकता है।[3] अभिप्राय यह है कि उसके लिए सृजन संघर्ष, जीवन-संघर्ष का ही रूप है। वह कहता है—

---

१ वही०, पृष्ठ ७६।

२ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ ७८, वाराणसी—१९६४।

३ श्रीवास्तव, परमानन्द, नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ १७, इलाहाबाद—१९६८।

मैं विचरण करता सा हूँ एक फैंटेसी में
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी ।[1]

जिस प्रकार जीवन-संघर्ष एक अनवरत प्रक्रिया है, उसी प्रकार सृजन-संघर्ष भी अनवरत चलने वाला व्यापार है । अतएव कवि कहता है—

नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती ।
....
....
परम स्वाधीन है, वह विश्व-शास्त्री है ।[2]

इस विश्वास के सहारे कवि सद्य:-प्रशंसा या कीर्तिलाभ आदि की बिना चिन्ता किए, सामान्य, प्रचलित एवं सुन्दर का मोह छोड़ कर रूखे, विरूप अप्रचलित किन्तु प्रखर एवं 'तेजष्कृत्' बिम्बों एवं प्रतीकों से उलझता है, 'स्वप्न के भीतर एक स्वप्न' देखता है, 'कथ्य के भीतर एक अनुरोधी विरुद्ध विपरीत नेपथ्य-संगीत' सुनता है ।[3] एक 'अरूप-शून्य' के समानान्तर अपनी सत्ता स्थापित करता है, और ललकार कर कह सकता है—

मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं,
दाग हैं,
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग है
अग्नि विवेक की ।
नहीं, नहीं वह वह तो है ज्वलंत सरसिज ।।
जिन्दगी के दलदल कीचड़ में धँस कर
वक्ष तक पानी में फँस कर
मैं वह कमल तोड़ लाया हूँ—
भीतर से, इसीलिए गीला हूँ
पंक से आवृत्त
स्वयं में घनीभूत
मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है ।[4]

---

१ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ ११८–१९, वाराणसी—१९६८ ।
२ मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ १६४, वाराणसी—१९६४ ।
३ वही०, पृष्ठ १६ ।
४ वही०, पृष्ठ १२९ ।

किनारे बैठकर 'मोती वाली मछली' की प्रतीक्षा करने वाले सुकुमार कवि 'दलदल कीचड़ में धँस कर कमल तोड़कर लाने वाले इस कवि के काव्य की अनोखी तेजस्विता को नहीं समझ सकते। उन्हें नयी कविता में कुछ भी महान नहीं लगता।'[1] अस्तु।

मुक्तिबोध के काव्य में भूत-पिशाच, तहखाने, खण्डहर, ब्रह्म, राक्षस, अन्धेरे जलाशय, बेखोफ नीली बिजलियाँ, चमचमाती निलाइयाँ, क्षुब्ध बारूदी धुएँ की झार, तिलिस्मी खोहें, 'सुमेरी बेबीलोनी जनकथाएँ, वैदिक ऋचाएँ, मंत्र, थियोरेम, मार्क्स, गाँधी, रसेल, सार्त्र, टायन्बी आदि का विचित्र सहभाव है। धूल खाते प्रेत, समुद्री पक्षियों की 'जंगली आँखें', राइफल-गोलियों के कारतूसी ढेर आदि, मुक्तिबोध के काव्य में कुछ भी वर्जित नहीं है। कवि तनाव के आवेग में अपने काव्य को कहीं गद्य के समीप ले आता है, कहीं नाट्य के और कहीं कहानी के। ऐसा साहस करने वाले कवि कभी-कभी ही पैदा हुआ करते हैं। यदि वह सर्वत्र सफल नहीं हुआ है तो भी उसकी महिमा कम नहीं है।

मुक्तिबोध के काव्य में बिम्बों का अम्बार होने पर भी वह बिम्ब-प्रधान काव्य नहीं है। कवि ने बिम्बों का प्रयोग प्रतीकों के रूप में अपरिचित और 'पूर्व-अनभिव्यक्त'—अर्थ की व्यंजना के लिए किया है। अतः जिन विद्वानों को मुक्तिबोध का काव्य पूरे-अधूरे बिम्बों का जंगल लगता है, वह अभिधा में उलझ कर रह गए प्रतीत होते हैं। इसीलिए मुक्तिबोध का काव्य जटिल होने का आभास देने लगता है। पर जब हम इस काव्य को कवि की समीक्षा दृष्टि से 'परिचित' होकर, उसके निबन्धों के आलोक में पढ़ें तो वह उतना 'अपरिचित' या 'जटिल' नहीं रहता।

(ग) मुक्तिबोध के अनुसार कवि के लिए तीसरा संघर्ष दृष्टि-विकास का संघर्ष है। दृष्टि-विकास या अनवरत चिन्तन-पक्ष को समृद्ध करते रहना, कवि के लिए आज जितना आवश्यक है, उतना पहले कभी नहीं था। मुक्तिबोध निरन्तर इस पर बल देते रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों की उपलब्धियों से मानव-जीवन एवं व्यक्तित्व के अजाने पक्ष आज निरन्तर द्रुत गति से खुल रहे हैं, उन सबसे अपनी जीवन-दृष्टि को समृद्ध करते रहना आज कवि-कर्म का अनिवार्य अंग है। मुक्तिबोध इससे कभी विचलित नहीं हुए। उनके काव्य को

---

१ पन्त, सुमित्रानन्दन, छायावाद, पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १२७, इलाहाबाद—१९६४।

'लोक हित-चेतना' और सामाजिक शुभ से संपृक्त काव्य कहा जाता है।[1] परन्तु मुक्तिबोध को किसी विशेष मतवाद से बांधना उपयुक्त नहीं। मार्क्सवाद से प्रभावित होकर भी वह प्रगतिवाद की एकांगिता से परिचित थे[2]। कभी-कभी तो यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि वह मार्क्सवादी थे या अस्तित्ववादी पर उनके चिन्तन पक्ष (के उपर्युक्त विवेचन) से परिचित होने पर उन्हें किसी वाद विशेष में बांधने का प्रयास हठ-धर्मिता ही कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध के काव्य का ऋणपक्ष भी है। इसमें कई जगह अन्धकार, दहशत एवं चीत्कारों का स्वर, प्रकाश, विशदता एवं जीवन-संगीत के स्वर को बिल्कुल ढँक लेता है। सामान्यतः उन्होंने घिराव, तनाव, घुटन, विघटन आदि को साधन बनाकर, जीवन के प्रति उत्कट प्रेम एवं औदात्य को साध्य रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु स्वयं जानते थे कि बहुत बार वह—

> व्रणाहत पैर को लेकर
> भयानक नाचता हूँ, शून्य
> मन के टीन-छत पर गर्म।
> हरपल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
> कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ।

परन्तु 'चीख' और 'शोर' के प्रति जागरूक होना ही उन्हें 'संगीत' की लय को बनाए रखने की शक्ति दे सका। जीवन के अन्तिम वर्षों में 'मुक्तिबोध बहुत आशंका ग्रस्त थे। छोटी से छोटी बात उन्हें विचलित कर देती थी। चाबी जिस जेब में रखी होने की उन्हें याद थी, अगर वह उस जेब में नही है, तो वे ऐसे सशंकित हो उठते थे, जैसे कोई बड़ा षड़यन्त्र उन्हें घेर रहा है। उन दिनों वे बहुत उत्तेजित होकर घण्टों बहुत जोर से बोलते रहते थे। गले की नसें तनी हुई साफ दिखती थीं।'[2] मुक्तिबोध की रचनाओं में आशंका और उत्तेजना का स्वर और अत्यधिक तनाव की स्थिति, इतनी हावी है कि प्रकाश और अन्धकार के सन्तुलन में अन्धकार का पलड़ा भारी हो जाता है। इसे केवल युग-यथार्थ कह कर नहीं टाला जा सकता। यह उनके व्यक्तित्व का प्रतिफलन है। उदात्त की दृष्टि से मुक्तिबोध की 'अन्धेरे में', 'चकमक की चिन्गारियाँ', 'एक अन्तर्कथा', 'ब्रह्म राक्षस', 'मुझे कदम-कदम पर', 'मुझे याद

---

१ दिनमान, (साप्ताहिक) पृष्ठ ४५, दिल्ली, २८ जनवरी, १९६६।
२ चांद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ १४६, वाराणसी—१९६४।

आते हैं' आदि कविताएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी 'अन्धेरे' में शीर्षक कविता सब से उत्कृष्ट है। कुछ विद्वान् तो इसे निरालाकृत 'राम की शक्ति पूजा' के समकक्ष रखना चाहते हैं।[१]

'अन्धेरे में' शीर्षक कविता में "मैं" काव्य नायक है, वह अपने उदात्त क्षणों में एक ऐसी आकृति (अस्मिता) देखता है, जिसका भव्य ललाट, दृढ़ हनु उसे आकर्षित करता है, अभिभूत करता है, जिसे जानने पहचानने के लिए वह बेचैन हो जाता है। वह आकृति कभी श्वेतवर्ण में मुस्काती हुई काव्य-नायक को हतप्रभ छोड़ जाती है और कभी 'रक्तालोक-स्नात-पुरुष' के रूप में ऐसा तेजस्विता का वातावरण प्रस्तुत करती है कि काव्य नायक के "अंग-अंग में अजीब एक थर-थर"[२] का अनुभव होती है। उसे लगता है—

> वह रहस्यमय व्यक्ति
> अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
> पूर्ण अवस्था वह
> निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की,
> मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
> हृदय में रिसरहे ज्ञान का तनाव वह,
> **आत्मा की प्रतिमा।**[३]

और यह 'व्यक्ति' (आकृति) 'अवसर-अनवसर' काव्य-नायक के सामने प्रकट होता है। और तुंग शिखरों की ऊँचाइयों पर पहुँचने के लिए कहता रहता है। काव्य-नायक कभी तो सोचता है कि 'मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा, मुझे डर लगता है ऊँचाइयों से और कभी वह यह सोचने के लिए विवश हैं—

> 'नहीं, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकूँगा,
> सहना पड़े—मुझे चाहे जो भले ही।'

काव्य-नायक की यह 'पूर्णतम परम अभिव्यक्ति' उसकी 'खोज' बन कर रह जाती है। चिन्ता में डूबे हुए उसे समझ नहीं आता कि यह 'स्वप्न है या जाग्रति।' वही 'आकृति' उसे 'तालस्तायनुमा' बनकर सितारों में दिखाई देती है। इसके बाद स्वप्न कथाएँ हैं। प्रथम उसे एक 'प्रोसेशन' दिखाई देता है।

---

१ आलोचना (त्रैमासिक) पृष्ठ ५४ (हरिशंकर, परसाई का 'एक संस्मरण), दिल्ली, —जुलाई—सितम्बर १९६८।

२ नामवरसिंह, कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २४२, दिल्ली—१९६८।

३ चांद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ २६८, वाराणसी—१९६४।

उसे लगता है कि 'घना व डरावना अवचेतन ही, जुलूस में चलता।' इस विचित्र प्रोसेशन में कर्नल, ब्रिगेडियर, मार्शल आदि के अतिरिक्त प्रकाण्ड आलोचक और कविगण तथा 'शहर का हत्यारा कुख्यात डोमा जी उस्ताद' भी चलता हुआ दिखाई देता है। और—

यहाँ ये दीखते हैं भूत-पिशाच-काय।
भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब
साफ उभर आया है,
छिपे हुए उद्देश्य
यहाँ निखर आए हैं
यह शोभा-यात्रा है किसी मृत दल की।''[1]

स्वप्न टूटने पर काव्य-नायक को प्रतीत होता है कि 'गहन मृतात्माएँ इसी नगर की हर रात जुलूस में चलती, परन्तु दिन में मिल-बैठकर षड़यन्त्र रचती रहती हैं।' काव्य-नायक ने इन्हें 'नंगा देख लिया है।' वह डरता है कि उसे इसकी सज़ा भुगतनी पड़ेगी। इसके बाद काव्य-नायक को एकाएक भान होता है कि जनक्रान्ति के दमन-निमित्त मार्शल-लॉ लग गया है, और—

कोई मेरा पीछा कर रहा है लगातार।
भागता मैं दम छोड़
घूम गया कई मोड़,

यहाँ फिर उसे लगता है कि कोई 'सिर फिरा पागल' ऊँचे गले से 'आत्मोद्-बोधमय गान' गा रहा है। यह 'सिर फिरा' और कोई नहीं—

व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ
वही उसे अकस्मात् मिलता था रात में
पागल था दिन में
सिर-फिरा विक्षिप्त मस्तिष्क।[2]

इस प्रकार काव्य-नायक जान लेता है कि 'वह' और कोई नहीं उसका ही 'आदर्शवादी' व्यक्तित्व है, जो जीवन के तनाव में उससे अलग हो गया है। उसकी महक सब ओर व्याप्त हो जाती है, पर उसमें छिपी वेदना और गुप्त चिन्ता भी छटपटाती हुई, काव्य-नायक को, महसूस होती है। दौड़ता हुआ जब वह किसी खोह में पहुँचता है, तो उसे वहाँ दीप्ति में वलयित अनुभव

---

१ वही०, पृष्ठ २७६।
२ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ २८५।

वेदना और विवेक-निष्कर्ष की 'तेजस्क्रिय मणियाँ' दिखाई देती हैं। उन्हें वहीं छोड़ वह फिर भागता है। दौड़ता-दौड़ता तिलक की पाषाण-मूर्ति के पास पहुँच जाता है और देखता है—

मूर्ति के तन से झरते हैं अंगार।
मुस्कान पत्थरी होठों पर काँपी
आँखों में बिजली के फूल सुलगते।[1]

फिर उसे लगता है कि मूर्ति के, अतिशय चिन्ता के कारण, मस्तक-कोष फट गए हैं। काव्य-नायक रोता हुआ आश्वासन देता है कि 'हम अभी जिन्दा हैं, चिन्ता क्या है।' पर गोली की आवाज़ फिर उसे दौड़ने को विवश करती है। आगे उसे आत्मा का पिंजर बने गाँधी मिलते हैं और मुस्करा कर काव्य-नायक को एक शिशु थमा देते हैं और स्वयं तिरोहित हो जाते हैं। वही शिशु "सूरज-मुखी फूल-गुच्छे" में परिवर्तित हो जाता है और उन स्वर्ण पुष्पों के प्रकाश से काव्य-नायक का सारा शरीर द्युतिमय हो उठता है। फिर दृश्य बदलता है। काव्य-नायक को पकड़ कर उसके दिमाग का 'अस्थि-कवच' निकाला जाता है। इसकी परीक्षा हो रही है। फिर उसे रिहा कर दिया जाता है। इसके बाद काव्य-नायक इस परिणाम पर पहुँचता है कि 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे। तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।

अब तीसरी स्वप्न-कथा शुरू होती है—

कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी।'[2]

आग और गोली का अर्थ है जन क्रान्ति और दमन। जिसमें सब चुप हैं, साहित्यिक और चिन्तन, शिल्पकार और नर्तक, सभी समझते हैं कि यह तो गप है, मात्र किंवदन्ती है। और उधर संवाद और समीक्षाएँ सब गढ़ी जा रही हैं। युग बदल रहा है।

फिर स्वप्न भंग हो जाता है। काव्य-नायक स्वप्नों के आशय को समझने का प्रयास करता है। मन अर्थों के घावों के आसपास घूमता है। दुनिया भर में उसे सुनहली तस्वीरें दीखने लगती हैं। प्रत्येक अर्थ की छाया में अन्य अर्थ साफ-साफ झलकने लगता है। काव्य-नायक उठता है गैलरी में खड़ा हो जाता है। सड़क पर लोगों की भीड़ में पुनः उसे वही व्यक्ति दिखाई दे जाता है जो

१ चांद का मुंह टेढ़ा है, पृष्ठ २९२।
२ चांद का मुंह टेढ़ा है, पृष्ठ ३११, वाराणसी—१९६४।

उसने गुहा में देखा था। वह उसे पुकारने के लिए मुँह खोलना ही चाहता है कि वह भीड़ में खो जाता है।

काव्य-नायक 'अनखोजी निज-समृद्धि का वह **परम-उत्कर्ष' 'परम अभिव्यक्ति'** खोज रहा है। पर उसे लगता है कि वह 'फटे हाल रूप' गलियों में प्रतिपल घूम रहा है। पर पता नहीं वह कहाँ है। इसीलिए काव्य-नायक हर गली, हर सड़क पर हर, चेहरे को झाँक-झाँक देखता है—

प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र
व हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श—
....
खोजता हूँ पठार....पहाड़....समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरे वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म संभवा।[1]

सारी कविता में एक तीखा तनाव शुरू से अन्त तक व्याप्त है। परिस्थितियाँ एवं व्यक्ति की अपनी अशक्तता, उसे अपनी 'परम अभिव्यक्ति' एवं 'परम-उत्कर्ष' का अनुसरण नहीं करने देती। प्रत्येक व्यक्ति एवं देश में, "उत्कर्ष का अंश फटे हाल बेचैन" घूमता फिर रहा है। उसे पहचानना, उसको अपनाना और उसे अभिव्यक्ति देना, 'स्वतन्त्र-चेता' व्यक्तियों के लिए सबसे बड़ी अर्थवत्ता एवं सब से बड़ा उत्कर्ष है। इस प्रकार 'सृजन का संघर्ष' और "जीवन का संघर्ष" एक ही उत्कर्ष के लिए संघर्ष है। मुक्तिबोध ने स्वप्न-चित्रों एवं 'फैंटेसी' के सहारे इसी संघर्ष की चुनौती को स्वीकारा है। इसीलिए यह कवि 'अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाने' का संकल्प करता है। 'खतरा' शब्द द्योतित करता है कि उत्कर्ष की अभिव्यक्ति, जीवन की अभिव्यक्ति का ही पर्याय है, जिसके लिए **सब मठों और गढ़ों** को तोडना अनिवार्य है। "अन्धेरे में" कविता में काव्यगत अभिव्यक्ति की समस्याओं का भी निरूपण है। इस प्रकार यह 'कविता के बारे में भी कविता है।'[2] 'कुल मिलाकर इसे

---

१ चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ ३१७, वाराणसी—१९६४।

२ नामवरसिंह, कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ २४२, दिल्ली—१९६८।

यदि नई कविता की चरम उपलब्धि कहा जाए, तो अतिशयोक्ति न होगी।[1] मुक्तिबोध की अन्य कविताओं में भी न्यूनाधिक यही तड़प, यही जिजीविषा, यही परमोत्कर्ष की ललक अभिव्यक्त हुई है। एक कविता दूसरी कविता से और दूसरी तीसरी कविता से, इसी संघर्ष को व्यक्त करती हुई कड़ियाँ जोड़ती-चलती है।

मुक्तिबोध की काव्य भाषा, अभिव्यक्ति एवं रचना-प्रक्रिया को पुराने मानदण्डों से व्याख्यायित करने का प्रयास असफल होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस काव्य का अभिशंसात्मक मूल्यांकन नहीं हो सकता।[2] स्वयं मुक्तिबोध के निबन्ध और उनकी कविताएँ बताती हैं कि वह 'अन्धेरे में' रह कर भी अन्धेरे का कवि नहीं है। 'उदात्त', 'उत्कर्ष' एवं उन्हीं को द्योतित करने वाले, 'तेजष्क्रिय' 'अनलोपम' 'सर्वोज्ज्वल' आदि शब्दों का (बहुतायत से) प्रयोग, मुक्तिबोध के उदात्त-प्रेम को बताता है। उन्होंने स्वयं अपने निबन्धों में काव्य के औदात्य पर विचार किया है, और काव्य में उसकी प्राप्ति एवं अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष किया है। वह 'जीवन पर मुग्ध रहे हैं।[3] उदात्त की दृष्टि से मुक्तिबोध का काव्य नयी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

अन्य कवि

मुक्ति बोध और अज्ञेय के अतिरिक्त इस काव्य में अगणित अन्य कवि हैं, परन्तु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से धर्मवीर भारती का नाम प्रमुख है। उनकी कविताओं में अत्यधिक सहजता, रूमानियत एवं सौन्दर्य-प्रियता का स्वर प्रधान है। नये बोध से चालित होने के कारण इनके काव्य को "नव स्वच्छन्दता का काव्य" कहा जा सकता है।

उदात्तोन्मुखता की दृष्टि से भारती का 'अन्धायुग' एवं 'कनुप्रिया' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'अन्धा युग' में समसामयिक जीवन की विभीषिका को महाभारत की युद्धोपरान्त पट भूमिका के रूप में चित्रित करने का प्रयास है। द्वितीय महायुद्ध की यातना एवं तृतीय महायुद्ध की आशंका के वातावरण में लिखे इस "काव्य-नाटक" में मूल्यों के विघटन से उत्पन्न जीवन की विषाद-पूर्ण स्थिति का चित्रण अधिक है। पर गहन से गहन अन्धकार में भी मनुष्य, थोड़े बहुत ही सही, प्रकाश-कणों को संजोकर रखने का प्रयत्न करता है।

---

१ वही०, पृष्ठ २४४।

२ माध्यम, पृष्ठ २२, प्रयाग, सितम्बर, १९६६।

३ चांद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ १२४, वाराणसी—१९६४।

उसका यही गुण उसे उदात्तोन्मुखता की ओर ले जाता है। सामान्यत: सारी पुस्तक में अन्धकार का वातावरण प्रमुख है पर बीच-बीच में ज्योति की पंक्तियाँ सान्त्वना और सहारे का काम देती हैं। जैसे—

> जब कोई भी मनुष्य
> अनासक्त होकर, चुनौती देता है इतिहास को
> उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।[1]

परन्तु काव्य-नाटक का अन्तिम प्रभाव विषाद और अवसाद का है। स्वयं कवि ने उसे हलका करने के लिये कथा-गायकों से "भरतवाक्य" के रूप में साहस स्वतन्त्रता, नूतन सर्जन, मर्यादित मुक्त आचरण के माध्यम से मानव भविष्य को "अन्धे संशय, दासता और पराजय से "बचाने की प्रार्थना कहलायी है।[2]

'कनुप्रिया' में उन क्षणों की कहानी है 'जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्त्व उसका नहीं है—महत्त्व उसका है, जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है।'[3]

अनुभूति की गहराई की दृष्टि से 'कनुप्रिया' 'अन्धायुग' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु उसका "दार्शनिक निष्कर्ष वय:सन्धि के विचार परिवेश में रहने वाली राधा की मन बुद्धि के अनुरूप ही है।[4] अभिप्राय यह है कि कनुप्रिया पर्याप्त आकर्षक एवं सफल कृति होने पर भी उदात्त नहीं है। उदात्त के लिये जिस सर्वाश्लेषी भावना एवं व्यापक और गहरी चिन्तन दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह इसमें नहीं है। अतिशय भावुकता ने यत्किंचित् उत्कृष्ट चिन्तन को, जो उसमें कहीं-कहीं है, उभरने नहीं दिया।

भारती ने 'अन्धायुग' एवं कनुप्रिया" में क्रमश: 'युद्ध' और 'प्रेम' की समस्या को उठाकर जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर उन्मुखता का परिचय तो अवश्य दिया है, परन्तु दोनों समस्याओं को ऐसा चिन्तन सन्दर्भ नहीं दे सका जो पाठक को उत्कर्ष की ओर ले जा सके। अन्धायुग में प्रवृत्ति मूलक चिन्तन पूरी तरह उभर नहीं सका और 'कनुप्रिया' में चिन्तन की अपेक्षा

---

१ अन्धायुग, पृष्ठ २४, इलाहाबाद—१९५५।

२ वही०, पृष्ठ १३०।

३ कनुप्रिया, पृष्ठ ६ काशी—१९५९।

४ देवराज, प्रतिकियाएँ, पृष्ठ १३९, दिल्ली—१९६६।

भावुकता का पलड़ा भारी हो गया है । उसमें भावना का आवेग कभी-कभी जीवन की अर्थवत्ता पर भी प्रश्न चिह्न लगाने लगता है—

अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बन्धु[1] ?
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रँगे हुए, अर्थहीन आकर्षक शब्द थे—
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?'

यहाँ नर-नारी के परस्पर आकर्षण को चरम मूल्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है, परन्तु जबतक ऐसे प्रयास को व्यापक संदर्भ नहीं दिया जाता तब तक यह किशोर-भावुकता से ऊँची चीज नहीं बन पाती ।

धर्मवीर भारती के अतिरिक्त कुंवरनारायण, जगदीश गुप्त और दुष्यन्तकुमार में भी उदात्त की संभावनाएं हैं। इनकी रचनाओं में यत्रतत्र इसके पुष्ट संकेत मिलते हैं ।

---

१ कनुप्रिया, पृष्ठ ७४,

५

उदात्त और अद्यतन गति-स्थिति

'आधुनिकता' और 'नवचिन्तन' के नाम पर आजकल सामान्यतः सारी साहित्यिक विधाओं में और विशेषतः कविता के क्षेत्र में जो अर्ध-पचित, अपचित, आयातित और आरोपित तथा कुछ सीमा तक परिवेश-प्रसूत 'चिन्तन' प्रसारित एवं प्रचारित हो रहा है, ग्रन्थ के समाहार के पूर्व उस पर, उदात्त के सन्दर्भ में, यत्किंचित् विचार-विमर्श प्रासंगिक प्रतीत होता है।

चिन्तन के क्षेत्र की कदाचित् सर्वाधिक जटिल समस्या 'अस्तित्व' के अर्थ की समस्या है। आधुनिक संदर्भ में इस समस्या से जूझने वाले विद्वानों के निषेध और नकार के बावजूद आजकल इसका 'वाद' ही बन गया है। वैसे तो इस समस्या के उत्स पर विचार करते हुए विद्वान प्लेटो तक जा पहुँचते है, पर 'वाद' रूप में इसके उद्गम का श्रेय डेन्मार्क-निवासी कीर्केगार्ड (Kierke-gaard) तथा जर्मन नीतिशास्त्री नीत्शे (Nietzsche) को दिया जाता है।[1] द्वितीय महायुद्ध के समय से फ्राँसीसी लेखक ज्याँ पॉल सार्त्रे (Jean Paul Sartre) और 'अस्तित्ववाद' (Existentialism) लगभग पर्यायवाची से हो गये हैं, यद्यपि इनसे पूर्व हस्सेर्ल (Husserl), हीडेगार (Heidegger) मार्सल (Marcel) एवं यास्पर्स (Jaspers) आदि चिन्तकों एवं अन्यान्य साहित्यकारों के नाम भी इस विचारधारा से सम्बद्ध माने हैं।

विभिन्न अस्तित्ववादियों की स्थापनाओं में यत्किंचित् अन्तर भी है, क्योंकि मूलतः और अन्ततः यह चिन्तन वैयक्तिक अनुभव एवं अनुभूति पर आधृत है। फिर भी इस चिन्तन से सम्बद्ध कुछ मूल स्थापनाओं का सार, लगभग इस प्रकार माना जा सकता है—

---

[1] पासमूर, जे., दर्शन के सौ वर्ष, पृ०—५७०, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर—१९६९.

[2] Blackem, H. J., Six Existentialist Thinkers, London—1961.

१. अस्तित्व 'सार' (essence) से पूर्ववर्ती है; अवैयक्तिक विचारणाओं की अमूर्तताओं से पूर्वतर है।
२. इसे किसी मतवाद, चिन्तन-पद्धति या सिद्धान्त में नहीं बांधा जा सकता। इस तरह यह चिन्तन तर्क-पद्धति या विचार-तन्त्र की अपेक्षा जीवन एवं संवेदना की महत्ता पर बल देता है।[1]
३. 'अस्तित्व' वैयक्तिक स्तर पर अनुभूति का विषय है। अतः ज्ञान-मात्र के, इस संदर्भ में, अपूर्ण, अपर्याप्त एवं अप्रामाणिक होने से, प्रत्येक स्थिति में, पूर्ण दायित्व व्यक्ति का अपना है। वह कर्त्ता एवं भोक्ता होने से बच नहीं सकता।
४. चयन, वरण एवं कर्म मे से होकर ही 'अस्तित्व' का अहसास बना रह सकता है। इससे बचाव नहीं है।
५. किसी भी 'अन्य' का निश्चय व्यक्ति का अपना निश्चय नहीं हो सकता, व्यक्ति अपने पर अश्रित होने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। वह स्वतन्त्र होने के लिये 'अभिशप्त' है।
६. मनुष्य का भविष्य अलिखित पुस्तक के समान है। उसे अतीत से नहीं बांधा जा सकता।
७. अतीत का समग्रता में आकलन भी तात्त्विक दृष्टि से असंभव है, क्योंकि अतीत का प्रत्येक आकलन 'रुचि' और दृष्टि से चालित होता है, अतएव अपूर्ण एवं एकांगी ही हो सकता है।

अतएव अतीत से कुछ सीख सकना भी असंभव है।
८. प्रत्येक व्यक्ति 'अपनी तरह' का है, एकांगी है, इसी में उसका व्यक्ति-वैशिष्ट्य है। इसीलिये एक का अनुभव दूसरे का या दूसरों का अनुभव नही हो सकता।
९. प्रकृति के भी बने बनाये नियम नही हैं, कुछ आदतें हैं, वह भी परिवर्तनशील हैं, कभी भी बदल सकती हैं, बदलती रहती हैं।
१०. सामाजिक ढाचे, नैतिक मूल्य आदि भी परिवर्तनशील हैं।
११. इस प्रकार 'अस्तित्व' ऐसी समस्या नहीं, जिसका समाधान हो सकता हो; ऐसा प्रश्न नहीं, जिसका कोई निश्चित उत्तर हो; अपितु यह तो एक ऐसा रहस्य है जिसे निरन्तर जीना होता है।

---

[1] Radhakrishnan, S. (Ed) History of Philosophy : Eastern & Western Vol II, Page, 424, London—1957.

ईश्वर हो या न हो इससे 'अस्तित्व' की समस्या में कोई अन्तर नहीं आता। (अस्तित्ववादियों में कुछ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वरवादी।)

१२. आत्म जो कि निर्णय लेता है, अर्थात् अधिकृत आत्म, उस अनधिकृत आत्म से ऊपर है जो हमारी शारीरिक बनावट, आनुवंशिक मूल परम्परा और हमारे सामाजिक ढांचों से बना है। अनधिकृत आत्म की वैज्ञानिक जाँच हो सकती है पर अधिकृत आत्म विज्ञान की पहुँच से परे है। अधिकृत आत्म तो अपने आप में विद्यमान होना है। यह स्वयं में मात्र एक संभावना है, चुनाव की मात्र क्षमता है। अधिकृत आत्म सक्रिय होकर ही पाया जा सकता है।

१३. अस्तित्ववाद का उद्देश्य कोई 'राह बताना' या 'दिशा देना' नहीं है, क्योंकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि में पूर्व-निर्दिष्ट कुछ नहीं है। व्यक्ति अपने जीवन को धार्मिक या अधार्मिक, वीर या कायर, परोपकारी या स्वार्थी, कुछ भी बनाने के लिये 'स्वतन्त्र' (अभिशप्त) है; पर परिणाम से अनभिज्ञ रहकर।

१४. यदि कोई व्यक्ति किसी 'शाश्वत' उत्तर या मतवाद आदि से अपने 'अस्तित्व' को बाँध ले तो अपनी 'अस्मिता' से ही हाथ धो बैठता है।

१५. इसका यह अर्थ नहीं कि अस्तित्ववादी किसी सम्प्रदाय या मतवाद आदि में भाग नहीं लेता। वह सब कुछ करता है पर 'समुदाय' का अङ्ग बनकर नहीं, 'व्यक्ति' रहकर। 'व्यक्ति' के नाते वह सोचता है, निश्चय करता है, उसे कार्य में परिणत करता है और इस तरह अपने 'अस्तित्व' को अर्थ देता है। यह प्रक्रिया किसी शाश्वत मतवाद स्वीकारने से नितान्त भिन्न है।

१६. किसी मतवाद या सिद्धान्त का सहारा व्यक्ति या उसके कार्य को अच्छा या बुरा, ठीक या ग़लत, नहीं बना देता। अपितु जीवन या उसके कार्य उसके व्यक्तित्व को स्वरूप देते हैं और उसे अच्छा या बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है।

हम किससे प्रतिबद्ध हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण यह है कि हम किस प्रकार प्रतिबद्ध हैं। (स्वयं चुनाव करके ग़लत होने का बोध भी हो सकता है।) उदासीन, अप्रतिबद्ध, वस्तुपरक व्यक्ति, पर्याप्त उत्साह के साथ कभी प्रतिबद्ध नहीं होते। इसीलिए वे नहीं जान सकेंगे कि उन्होंने ग़लती कहाँ की है।

१७. इस तरह 'अस्तित्ववाद' एक ऐसा दर्शन है, दर्शन नहीं 'दृष्टि' है, जिसका न तो जीवन की व्याख्या से कोई सम्बन्ध है, न इसमें कोई अन्विति ढूंढ़ने से और न ही इसे बदलने से। यह तो अस्तित्व की सार सत्ता को उभार कर रखने का उपक्रम है। यह व्यक्ति को 'स्वतन्त्रता' (निर्बन्धता) का अहसास करवाता है।

१८. यह 'स्वतन्त्रता' सचेत 'चयन', 'वरण', स्वीकार-नकार, विरोध, चुनौती आदि में उभरकर सामने आती है।

'चयन' की प्रक्रिया में तनाव, निराशा, खिन्नता, मतली आदि मनःस्थितियों में से गुज़रना 'स्वतन्त्रता' के अभिशाप का अङ्ग है।

१९. सैद्धान्तिक रूप में अस्तित्ववादी चिन्तन ऐसा भवन है जिसमें निरन्तर परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहता है। इसका निश्चित रूप नहीं है।

२०. सभी धार्मिक राजनैतिक सम्प्रदायों ने अस्तित्ववादी स्थापनाओं का न्यूनाधिक कटुता से विरोध किया है क्योंकि यह सामाजिक-दर्शन न होकर मात्र व्यक्ति-दृष्टि है। परन्तु अधिकांश बुद्धिजीवी चाहे अनचाहे इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं, क्योंकि इसने बद्ध-दृष्टियों की एकांगिता, हठधर्मिता और असत्यता को अनावृत किया है।

२१. व्यक्ति-केन्द्रित होकर भी, यह चिन्तन, समाज का आत्यन्तिक निषेध नहीं करता।

सार्त्र के अनुसार सत्ता (Being) के तीन भेद हैं। (क) वस्तुएँ 'अपने में सत्ता' (Being-in-itself) रखती हैं; (ख) व्यक्ति 'अपने लिए सत्ता' (Being for-itself) रखते हैं, और (ग) हम सब 'दूसरों के लिए सत्ता' (Being for others) रखते हैं, जिसका अर्थ है कि दूसरों की दृष्टि में हमारा अस्तित्व है और हम 'स्व' (आत्म) को दूसरों के (हमारे बारे में) विचारों के आधार पर भी अनुभव करते हैं। दूसरों से अनादर की अपेक्षा, आदर पाकर हम अधिक 'अस्तित्व-वान' महसूस करते हैं। पर दूसरों की दृष्टि से ही अपने को आँकना, उन्हीं की कसौटी पर कसना, 'स्वतन्त्रता' से वंचित हो जाना है, जोकि घातक है। अतएव आत्म के लिए बहुमत का भी 'अस्वीकार' अस्तित्व के स्वातन्त्र्य की शर्त है।

२२. सार्त्र के अनुसार 'अस्तित्वाद' दुर्विश्वास (Bad faith) के विरुद्ध ईमानदारी (Sincerety) का आग्रह है। गैर-ईमानदारी तब है जब हम

यह समझें कि (i) वस्तुएँ जैसी हैं वैसी हो सकती थीं और (ii) हम जैसे है वैसे ही हो सकते थे। चाहकर भी भिन्न प्रकार के नहीं हो सकते थे।

मनुष्य के सामने दो मार्ग हैं। (i) वह चाहे तो अन्धविश्वास या दुर्विश्वास (Bad faith) में गिर सकता है और (ii) चाहे तो विश्व की 'अनर्गलता' (ऊलजलूलता = Absurelity) के बावजूद अपने कृत्यों द्वारा, जीवन द्वारा, इसे वह अर्थ दे सकता है, जो उससे ही संभव है। सतत सचेत रहकर, चयन एवं वरण करते हुए जीवन को अर्थ देते रहना ही 'अस्तित्व को बनाये रखना है।

डॉ० राधाकृष्णन जैसे विद्वानों को तो अस्तित्ववादी चिन्तन पुरातन चिन्तन-पद्धति का ही नया नाम प्रतीत हुआ है। उनके अनुसार 'वेदान्त' और 'बौद्ध धर्म' में जिस 'आत्मज्ञान' ('आत्मानं विद्धि') को लक्ष्य रूप में स्वीकार किया गया है वही आत्मज्ञान इस चिन्तन का भी उद्देश्य है।[1] कुछ अन्य विद्वानों ने अस्तित्ववादी-चिन्तन का आमूल खण्डन किया है। यहाँ हमारा उद्देश्य खण्डन-मण्डन की अपेक्षा इस चिन्तन से प्रेरित काव्य (साहित्य) में उदात्त की सम्भावना-असम्भावना का विवेचन करना है।

सैद्धान्तिक स्तर पर यह चिन्तन सम्पूर्ण पूर्व-प्रतिष्ठित या पूर्व-कल्पित का तिरस्कार या निषेध करके चलता है; मनुष्य को निपट अकेला या नितान्त निराश्रित छोड़ देता है। इतना ही नहीं यह तो 'आश्रय' की कल्पना-मात्र को 'स्वातन्त्र्य' या 'अस्तित्व' के लिए घातक समझता है। इसीलिए इस चिन्तन से प्रेरित साहित्य में 'चरित्र' या 'व्यक्ति' नहीं होते; एक तरह से, स्थितियों (परिस्थितियों, मनःस्थितियों) में उलझी हुई "स्वतन्त्रताएँ" होती हैं। सामान्यतः व्यक्ति के व्यक्तित्व के निषेध में 'अस्तित्व' की सार्थकता ढूंढ़ने वाले तथा निराशा, खिन्नता, उद्विग्नता, आकुलता आदि की अनिवार्यता स्वीकार करने वाले, इस चिन्तन से प्रेरित काव्य मे औदात्य की संभावना संदिग्ध प्रतीत होती है। परन्तु स्थिति सम्भवतः इतनी निराशाजनक नही है। यदि अस्तित्ववाद की मूल स्थापनाओं को तद्वत् स्वीकार भी कर लिया जाये, तो भी यह चिन्तन उदात्त की सम्भावनाओं से नितान्त रिक्त नहीं है। उदाहरण

१ Radhakrishnan. S, History of Philosophy : Eastern & Western, Page 443, London—1957.

के लिये जिस स्थिति को अर्थान्विषण की प्रक्रिया में सत्ता का 'अवस्तु' (Being का Nothing) या 'निरस्वत्व' हो जाना कहते हैं उसे ही उदात्त व्यक्ति 'अभिशाप' की अपेक्षा 'आत्मोत्तीर्णता', (going beyond immediate being)[१] का सुअवसर मान सकता है। तब यही स्थिति तनाव, निराशा, खिन्नता, मतली आदि मनःस्थितियों में से गुजरने की अनिवार्य विवशता (अभिशप्ति, स्वतंत्रता) की अपेक्षा उत्साह, ऊर्जस्वित आवेग, निर्द्वन्द्वता, महोल्लास या आनन्दोदविमयता के रूप में स्पृहरणीय हो जायेगी।[२] स्वयं अस्तित्ववादियों ने विभिन्न देशों के स्वतन्त्रता-संग्रामों को उन्मुक्तता से सहानुभूति एवं सहयोग दिया है, जोकि निस्सन्देह उदात्त है।

दुर्भाग्यवश अधिकांश तथाकथित "आधुनिक" साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी चिन्तन के धनपक्ष की संभावनाओं की अपेक्षा, विषमता, विद्रूपता, वर्जना, संत्रास, आशंका, उद्विग्नता आदि के चित्रण में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली है। इसका अनिवार्य परिणाम घोर निराशा ही हो सकता था। इस चिन्तन की अतिवादी परिणति 'अनर्गलता' या 'ऊलजलूलवाद' (Absurdity) के रूप में हुई।

अनर्गलता का अर्थ है—असंबद्धता, तर्क-विरुद्धता, निरुद्देश्यता, भटकाव, बिखराव। अतः 'अनर्गलता' का 'सिद्धान्त' 'वाद' या 'आन्दोलन' 'वदतोव्याघात' है। विश्लेषण द्वारा या सृजन द्वारा ज्यों ही लेखक 'अनर्गलता' को विषय के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास करता है त्यों ही संबद्धता' या तर्क-संगति के रूप में अर्थ उभरने लगता है। तात्विक दृष्टि से 'अनर्गलता' में आत्यन्तिक विश्वास की दो ही परिणतियाँ हो सकती हैं—पूर्ण मौन या आत्म हत्या। सृजन का अर्थ ही है आस्था। अतः 'सृजन' और 'अनर्गलता' विरोधी स्थितियाँ हैं।

---

१ I exist as truly human only in going beyond my immediate being in phssuit of an aim which is not dictated to me but which I freely project". History of Philosophy : Eastern & Western, Page 436.

२ तुलनीय—"स्वतन्त्रता से ······ छुटकारा नहीं है। इसमें क्या हमें चिन्ता का कारण दीखेगा,—चिन्ता का, भय का, वेगानगी का, संत्रास का, उन सब अस्वस्ति भावों का जिनकी इतनी चर्चा आज के साहित्य में होती है? या इसमें हम पायेंगे स्फूर्ति, प्रेरणा, बल, उत्साह, आशा का उल्लास? वात्स्यायन, स० ही० आलवाल, पृ० ६५, —दिल्ली—१९७१

निरुद्देश्यता में विश्वास करने वाला किस उद्देश्य से लिखेगा ? 'तर्क-विरुद्धता' का प्रचारक किस तर्क का आश्रय लेगा ? किस 'अर्थ' का संप्रेषण चाहेगा ?

वास्तव में 'अनर्गलता' का साहित्य भी ऊपरी असंबद्धता में आन्तरिक सम्बन्धता लिये रहता है। ब्रेख्त के अनुसार ऐसे नाटकों का उद्देश्य जीवन की 'निरर्थकता' के प्रति प्रेक्षकों में जागरुकता की अभिवृत्ति जगाना और जीवन की अर्थहीनता को झेलने की चुनौती देना है।[१] प्रतिभाशाली लेखकों ने 'अनर्गल नाटक' (Absurd Theatre) द्वारा समाज की क्षुद्रता और अहंभावना पर चोटें की हैं तथा मनुष्य को, सभी प्रकार के मुखौटे हटाकर, "असली" रूप में अनावृत किया है। ऐसी रचनाओं का उद्देश्य 'जीवन.वास्तव' का प्रस्तुतीकरण या आत्म साक्षात्कार कहा जा सकता है। दुर्विश्वास (Bad faith), पाखण्ड और प्रवंचना के मुखौटे हटाना जीवन का काम है। पर अधिकांश फैशन परस्तों ने 'मुखौटों' की अपेक्षा 'मुख' ही हटा दिये हैं। परिणामस्वरूप अधिकांश लेखन 'व्यक्तित्वहीन' 'निष्प्राण' 'चर्वित-चर्वण' या निरर्थक-प्रलाप' बनकर रह गया है। 'अनर्गलता' के बारे में न होकर स्वयं 'अनर्गल' हो गया है।

सिद्धान्त रूप में इस चिन्तन में तर्क-संगति है, न तथ्यपरकता और न अतिक्रामिता, अथवा पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक पुरस्कारकता है। यहाँ तो मात्र निषेध है। अधिक से अधिक इसे सामान्य 'लोक-चेतना के विरुद्ध अत्यल्पमत की सापेक्ष्य मनःस्थिति' कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह सभ्यता के ऐतिहासिक विकास में विशेष देशकाल की विकृतियों की उपज है।

जीवन का अर्थ ही है जिजीविषा—अदम्य आशावाद। मनुष्य के सारे प्रयासों का—धर्म, दर्शन, कला और विज्ञान का—उत्स यही आशावाद है, जीवन की अर्थवत्ता और संगति में विश्वास है।[२] यूरोप को प्रत्येक क्षेत्र में, विश्वनायक मानकर चलने वाले भारतीय लेखक इस तथ्य से आँखें बन्द किये हैं।

---

१ Hinchliffe, A. P., The Absurd, London, 1972.

२ The whole method & procedure of Science are based on faith in the orderliness of nature. Einstein stresses that "this knowledge, this feeling is at the centre of true religiousness. In this sense & in this sense only, I belong to the ranks of devoutly religious men.
Radhakrishnan, S., (Ed.) History of Philosophy : Eastern & Western
Page 44-42, London—1957.

वहाँ के उच्छिष्ट[1] से पेट भरने वालों का 'सृजक' (?) कबतक जियेगा ? वह नहीं समझते कि शस्त्र उधार लिये जा सकते हैं, शौर्य नहीं; शास्त्र उधार लिये जा सकते हैं, विवेक नहीं ।

उदाहरण के लिये 'अकेलेपन' को लिया जा सकता है । संवेदनशील प्रातिभ व्यक्ति सदा ही "अकेला" होता है । कालिदास हो या भवभूति, कबीर हो या निराला, तालस्ताय हो या रोमां रोलां, सभी "अकेले" रहे हैं । अकेलेपन की असाधारण अतल गहराइयों में जाये बिना सृजन संभव ही नहीं है । रचनात्मक प्रतिभा के लिये 'अकेलेपन' के 'दण्ड' को भुगतने का उपाय 'आत्म-बोध'[2] है, 'असीम प्रेम'[3] है, या अज्ञेय के शब्दों में 'सम्पूर्ण लगाव' या 'सम्पूर्ण प्रतिबद्धता'[4] है, सृजन है । अकेलेपन की अनुभूति ही प्रातिभ-व्यक्ति के 'संपृक्त' होने का सबसे बड़ा प्रमाण है । वह सृजनात्मकता के माध्यम से 'यथास्थिति' को 'यथारुचि' में (यथास्मैरोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते), 'जैसे है' को "जैसा होना चाहिये" में बदलने का उपक्रम करता है; सारी व्यवस्था को चुनौती देता है कष्ट झेलता है, विभिन्न क्षेत्रों में नई पद्धतियों को जन्म देता है, उपेक्षित 'अनाम' 'अरूप' को नाम रूप देता है । "दल बनाकर" अकेलेपन का उद्घोष करने वाले, उखाड़-पछाड़ के सभी हथकण्डों के प्रयोग में प्रवीण, आज के अधिकांश तथाकथित 'अकेले' (?) इसे नहीं समझ सकते । नपुंसक आक्रोश, और विद्रोह का मुखौटा ओढ़े, मूल्य मात्र के प्रति वितृष्णा, आकुलता, संत्रास, विघटन आदि के चित्रण में ही सृजन की चरितार्थता समझने वाले ये लेखक 'अकेलेपन के दर्द' को (और उस 'दर्द ढोने की' गरिमा को) कैसे समझ सकते हैं ?

निस्सन्देह आज की स्थिति बड़ी विकट है । सारा परम्परा-प्राप्त छोटा, थोथा या झूठा प्रतीत होता है । साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में घोर अव्यवस्था और अन्धकार है । प्राय: सभी क्षेत्रों का नेतृत्व ठग, भ्रष्ट और तिकड़मी लोगों के हाथों में है । छिटपुट युवा प्रतिक्रिया 'तोड़ने में'

---

१ लाया साखी बनाय कै, इत उत अच्छर काटि ।
कह 'कबीर' कब लग जिये, जूठी पत्तल चाटि ॥

२ देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि मूरख भुगतै रोय ॥ (कबीर)

३ The Autobiography of Bertrand Russell (1872-1914), Page 13, 146, London—1967

४ वात्स्यायन, स०, ही०, आलवाल, पृ०-६१,—दिल्ली—१६७१

('नक्सलवाद' में) प्रकट हो रही है या 'छोड़ने में' ('हिप्पीवाद' में)। अधिकांश व्यक्ति निर्लज्ज भाव से स्वार्थ-साधना (आत्म-सुरक्षा) में व्यस्त हैं। पर प्रातिभ व्यक्ति परिस्थिति का दास नहीं होता। वह उससे प्रभावित अवश्य होता है। वह न 'छोड़ता' है न 'तोड़ता' है, वह तो जूझता है, बदलता है, बदलने के लिये अपने आपको दाँव पर लगाता है। सामान्य व्यक्ति के लिये जो संकट की स्थिति है, उदात्त व्यक्ति के लिये वही स्थिति "सब बंद खोल के" निर्भय भाव में जूझने की वेला[1] होती है।

ऐसे भी हैं जिनके लिये न कोई संकट है, न कोई चुनौती। उनके लिये सब कुछ युगों से सुचिन्तित सुरक्षित पड़ा है। वे "सबसे भले"[2] हैं, प्रणम्य हैं!

---

१ खेत न छांडे सूरमा, अंग न पहिरै लोह।
जूझै सब बंद खोलि कै, छांडै तन का मोह॥ (कबीर)

२ 'सब ते भले विमूढ़, जिनहीं न व्यापत जगत गति।' (तुलसीदास)

परिशिष्ट

आधुनिकता : सन्दर्भ हिन्दी काव्य

१. प्राचीन काल में, विचारों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने पर भी, किसी न किसी तरह (प्रायः) परमतत्त्व ही चिन्तन का केन्द्र एवं सभी प्रकार के मूल्यों का मूलाधार समझा जाता था। चिन्तन के रूप में भेद होता जाता था, स्वरूप मुख्यतः वही था; प्रकार बदलते रहते थे, प्रकृति लगभग वही थी। धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य आदि इसी केन्द्रीय तत्त्व से चालित या प्रेरित होते थे। अतएव साहित्य एवं कलाओं का क्षेत्र तथा लक्ष्य भी मुख्यतः परमतत्त्व की अप्रमेयता, परमेश्वर की विभूतियत्ता, अवतारों की लीला एवं विख्यात महामानवों के प्रेम और वीरता के गौरव का गान था। मनुष्य की या मनुष्य जीवन की महत्ता प्रायः इस बात में समझी जाती थी कि इसी योनि में जीव मोक्ष, परमाराध्य का सान्निध्य, भगवदनुग्रह या आत्मबोध पाने का (अधिक) सुअवसर प्राप्त करता है। इसीलिए मनुष्य-जीवन को पुण्य-प्रताप-प्राप्त समझा जाता था।

२. आधुनिक काल में चिन्तन का केन्द्र ही बदल गया है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो गया है; अथवा कहना चाहिए कि चिन्तन में गुणात्मक परिवर्तन होने से एक नए काल—आधुनिक काल—का जन्म हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने, डार्विन के 'विकासवाद' ने एवं अन्य मनीषियों की स्थापनाओं ने, परमतत्त्व की जगह मनुष्य को चिन्तन का केन्द्र एवं सभी मूल्यों का अधिष्ठाता बना दिया; राजतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र में मनुष्य-जीवन की चरितार्थता के सुअवसर देखे; परलोक की अपेक्षा इहलोक को साध्य बनाया एवं धर्म के स्थान पर राष्ट्रीयता—समता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व—एवं अन्तर्राष्ट्रीयता को उच्चतर उद्देश्य सिद्ध किया। परिणामस्वरूप मानव के इतिहास में पूर्णतः नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ। धर्म, दर्शन, नैतिकता एवं राजनीति आदि के क्षेत्रों में नई मान्यताओं और नए मूल्यों ने जन्म लिया और साहित्य के क्षेत्र में सामान्य मानव की प्रतिष्ठा हुई।

३. भारत में आधुनिकता का प्रवेश अपेक्षाकृत बाद में हुआ और इसका स्वरूप भी स्वभावतः यूरोपीय आधुनिकता से किंचित् भिन्न रहा। इसका कारण यहाँ की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियाँ एवं लम्बी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। यहाँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम, पुनरुत्थान की भावना एव सांस्कृतिक पुनर्जागरण या नवजागरण[1] की चेतना, एक ही महान आन्दोलन के विभिन्न पहलू थे।

राजा राममोहनराय को नवजागरण का अग्रदूत, या आधुनिक भारत का जन्मदाता कहा जाता है। इन्होंने धार्मिक उदारता, समाज-सुधार और नवीन शिक्षा-दीक्षा पर बल दिया। रूढ़ियों के त्याग एवं नवीन के स्वीकारने में यह स्वतन्त्र दृष्टि पुराने भारत के विशाल जन-मानस को आन्दोलित करने लगी। एकसाथ अनेकों बलिष्ठ और न्यूनाधिक पश्चिमाभिमुखी एवं पूर्वाभिमुखी व्यक्तित्वों ने भारतीय जन-चेतना को आक्रान्त कर लिया। एक ही साथ नवीन के प्रति आग्रह, सुधारवाद, वेदवाद की पुनः स्थापना, वेदान्त का पुनराख्यान आध्यात्मिक उल्लास एवं गीता की कर्मयोगपरक व्याख्या के सिद्धान्त प्रचलित एवं प्रचारित हुए। इङ्गलिश साम्राज्य एवं शिक्षा-दीक्षा से प्रेरित होकर भी यह आन्दोलन, जहाँ पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह था, वहाँ दूसरी ओर विदेशी शासन और विदेशी संस्कृति के भी विपक्ष में था, दोनों की चुनौती के उत्तर में खड़ा था। अतएव बहुत शीघ्र लोकव्यापी हो गया।

---

१ पुनरुत्थान अतीतोन्मुख होता है; इसमें उस व्यतीत को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है, जो कभी अपनी निर्दोषता एवं पूर्णता (?) में गौरव तथा गर्व का विषय समझा जाता रहा हो। परन्तु परिवर्तित एवं परिवर्तमान परिस्थितियों में ऐसा असभव है, अतएव ऐसा प्रयास कुछ देर तक कुछ शुद्ध हृदय, अतिरिक्त उत्साही एव अपेक्षाकृत न्यूनचेता व्यक्तियों को आकर्षक लगकर भी असफल सिद्ध होता है। पुनर्जागरण या नवजागरण भविष्योन्मुख होता है। इसमें गौरवमय अतीत को भी नये के सन्दर्भ में ही ग्रहण किया जाता है। हिन्दी काव्य में भाषा के प्रयोग के एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है : पुनरुत्थानवादी हरिऔध की तत्सम पदावली पुराने की आवृत्ति है; किंचिदाधुनिक मैथिलीशरण गुप्त के तत्सम शब्दों में हरिऔध की अपेक्षा कुछ सजीवता है, और छायावादी कवियों की तत्सम पदावली में नई अर्थव्यंजकता है।

इस महान् आन्दोलन ने दो अपूर्व व्यक्तित्वों को जन्म दिया, जिनकी ख्याति देशव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी कही जा सकती है। वे दो व्यक्तित्व हैं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी। एक को जीवन की चरितार्थता साहित्य, संगीत एवं कला आदि में मिली और दूसरे को राजनीति और समाज-सुधार में। परन्तु राष्ट्र प्रेम, एवं मनुष्य की महिमा को प्रतिष्ठित करने में दोनों का समान आग्रह है। दोनों परमतत्त्व में आस्थावान हैं, पर दोनों के चिन्तन का लक्ष्य मानव का उद्धार है। गाँधीजी के मानव-केन्द्रित चिन्तन में प्रमुख स्वर नैतिक, सामाजिक दृष्टि का है और श्री रवीन्द्रनाथ का चिन्तन सौन्दर्य-परक रहस्य-चेतना से रञ्जित है। इसीलिए एक नैतिक नियमों के ऐश्वर्य में आश्वस्त है, दूसरा प्राकृतिक सौन्दर्य के ऐश्वर्य पर मुग्ध। दोनों का भारत के आधुनिक साहित्य पर प्रबल प्रभाव पड़ा है।

४. हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रथमोन्मेष भारतेन्दु-युग से माना जाता है। इस युग में प्रेम और शृङ्गार को रीतिकालीन संकीर्णता, विलासिता एवं नायिकाभेद की दलदल से निकाला गया। देशप्रेम, समाज-सुधार एवं परिष्कृत भक्ति भावना की अभिव्यक्ति से कविता के क्षेत्र को व्यापकता मिली। नई साहित्यिक विधाओं का जन्म हुआ। द्विवेदी युग की रचनाओं में पुनरुत्थान-भावना के फलस्वरूप पौराणिक कहानियों को सायास तर्क-सम्मत अर्थ देने का प्रयास किया गया। वेदवाद और शुद्धि-आन्दोलन पर आग्रह से कविता के स्थान पर पद्यबद्ध उपदेश एवं इति वृत्तात्मकता की बहुलता हुई। संभवतः इसीलिए इस युग में आधुनिकता की प्रक्रिया को 'स्थितिशील' एवं 'अवरुद्ध' कहा जाता है।[1] द्विवेदी युग की महत्ता खड़ी बोली को काव्य का वाहन बनाने में है। पर इस युग का मूल्यबोध, मुख्यतः पुराना है। इसमें सन्देह नहीं कि मैथिलीशरण गुप्त (जिनकी प्रमुख रचनाएं 'छायावाद' काल की हैं) आदि की रचनाओं में कतिपय मानव-केन्द्रित चिन्तन के तत्त्व हैं, फिर भी वास्तविक 'आधुनिक हिन्दी काव्य' का आरम्भ 'छायावाद काल' से माना जा सकता है।

---

१ मदान, इन्द्रनाथ—कविता और कविता, पृ० ६, दिल्ली—१९६७।

५ छायावाद काल से आधुनिक काव्य का आरम्भ मानना इसलिए संगत है, क्योंकि छायावादी काव्य आकृति मे ही नहीं प्रकृति में भी पूर्ववर्ती काव्य से भिन्न है। यह न भक्ति-काव्य के अर्थ में अध्यात्मवादी है, न रीति-काव्य के अर्थ में शृङ्गार प्रधान है, और न भारतेन्दु-द्विवेदी युगों के अर्थ में पुनरुत्थानवादी तथा सुधारवादी है। इस पर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों का प्रभाव है और यह परिवर्तन गुणात्मक है। इस काव्य में मानव केन्द्रित-चिन्तन का प्राधान्य है, स्वच्छन्दता का उल्लास है, सांस्कृतिक गौरव की अनुभूति है, वैयक्तिक उल्लास, अवसाद एवं निराशा आदि के स्वर की अभिव्यक्ति है, प्रकृति के प्रति विस्मयाविष्ट दृष्टि एवं अपने आँसुओं पर मुग्धता का भाव है। इसके अतिरिक्त परिपाटी-विहिन रसज्ञता को चुनौती है, रूढ़ियों का तिरस्कार है। मुख्य स्वर नवजागरण का है, कहीं-कहीं पुनरुत्थान की भावना भी है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि स्वयं छायावादी कवि अपने स्वर की अपूर्वता के स्रोत के बारे में बहुत स्पष्ट नहीं थे।[1] इसीलिए अपनी अपूर्वता से उत्पन्न प्राचीनतावादी पण्डितों के विरोध का परिहार करने के लिये इन्होंने वेद, उपनिषद, शैवदर्शन, बौद्ध-दर्शन आदि से प्रमाण दे देकर अपने पक्ष की पुष्टि की। परिणाम यह हुआ कि छायावादी काव्य के यत्किंचित् प्रतिष्ठित होते ही पुराने पण्डितों ने छायावाद की 'दार्शनिक' व्याख्याएँ प्रस्तुत करनी प्रारम्भ कर दीं। प्रत्येक कविता का आध्यात्मिक अर्थ लगाया जाने लगा। और तो और इस काव्य की अभिव्यक्तिगत अशक्तियों—अस्पष्टता, दुरूहता, हल्केपन आदि को भी दार्शनिकता के नाम पर सराहा जाने लगा।[2] दूसरी ओर छायावादी काव्य के परवर्ती 'कवि-समीक्षक' आते हैं जो छायावादी काव्य को 'आधुनिक काव्य' तक स्वीकारने से इन्कार करते हैं।[3] दोनों ही अतिवाद हैं।

---

१ नामवरसिंह, छायावाद, पृ०—३०, बनारस—१९५५।

२ देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृ०—३४, दिल्ली—१९६६।

३ माथुर, गिरिजाकुमार—नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ पृ०—१०५, —दिल्ली—१९६६

६. 'आधुनिकता', वास्तव में, नवीनतम परिस्थितियों के सन्दर्भ में उठे प्रश्नों एवं समस्याओं के उत्तर या समाधान खोजने की ललक का नाम है; अपर्याप्त उत्तरों और अधूरे समाधानों पर प्रश्न-चिह्न लगाने की क्षमता' का वाचक है और अनुत्तरित एवं असमाहित को 'झेलने के साहस'[1] का पर्याय है। यह स्थिति नहीं, अपितु निरन्तर परिवर्तमान प्रक्रिया है। परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं और पुराने उत्तरों या समाधानों पर निरन्तर प्रश्न-चिह्न लगाने पड़ते हैं।

डॉ० मदान की स्थापना है कि आधुनिकता मूल्य न होकर एक प्रक्रिया है।[2] वास्तव में 'संसार' (संसरति-इति संसारः) या 'जगत' (गच्छति-इति) आदि शब्दों के मूल में भी सृष्टि मात्र को प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा गया है। रुकाव, चाहे 'परम्परा' के नाम पर हो चाहे 'आधुनिकता' के या किसी भी अन्य वाद के, जड़ता का प्रतीक है, जीवन की प्रकृति के विरुद्ध है, अतएव हेय है। परन्तु 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग जिस मानव-केन्द्रित चिन्तन से प्रारम्भ हुआ है, वहां मूल्यों का मूलाधार बदल गया है, जीवन दृष्टि बदल गई है। यह बात अलग है कि नित नई वैज्ञानिक उपलब्धियों, नित नये अन्वेषणों, सामाजिक समस्याओं, राजनैतिक घटनाओं एवं आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप 'मानव'[3] का अर्थ निरन्तर बदल रहा है। इसी अनवरत एवं द्रुत परिवर्तनशीलता के कारण ही बुद्धिजीवियों मे मूल्यों के विघटन का शोर है और नये मूल्यों के अस्तित्व में न आने से निराश्रित होने की विकलता का अहसास है।

---

१ 'झेल सकना' सदा सहज नहीं होता। अतः आधुनिकता की चुनौती कभी व्यक्ति को 'अकामक' बनाती है, कभी 'आहत' और कभी पराजित; कभी व्यंग्य, विद्रूप और मसखरेपन के लिये मजबूर करती है और कभी 'निर्वासित' तथा 'अजनबी' होने के लिये विवश। कई बार यह व्यक्ति को मात्र 'खलनायक' बनाकर छोड़ देती है।

२ मदान, इन्द्रनाथ—कविता और कविता, पृ०—१४, दिल्ली—१९६६।

३ श्री यशदेव शल्य लिखते हैं—"मनुष्य को पराकाष्ठा मान लेने से मनुष्य की अपनी गरिमा खण्डित हुई है : हम प्रायः ही अपने जीवन का, अपने होने का, अर्थ जानना चाहते हैं। यह प्रश्न मनुष्य को अपने से "परे" देखने को बाध्य करता है। "परे" कुछ नहीं दीखने पर उसे अपने अर्थ के प्रति सन्देह होता है। और जीवन के अर्थ में सन्देह कैसी मनःस्थिति देता है, यह कल्पना करना कठिन नहीं है।"

—'विषय और आत्म', पृ०—९३, जयपुर—१९७२

७. बहुत बार व्यक्ति रुक जाते हैं, परन्तु प्रवाह चलता रहता है, कई बार प्रवाह उथला पड़ जाता है और व्यक्ति नई धाराओं का प्रवर्तन करते हैं या नई धाराओं में बहने लगते हैं और कई बार व्यक्ति एवं प्रवाह दोनों में अवरोध आ जाता है। इस स्थिति का परिहार "व्यतीत" से लगभग पूर्ण विच्छेद द्वारा होता है, जिससे एकदम नये युग का जन्म होता है। [आत्यन्तिक विच्छेद, साँस्कृतिक इतिहास में नया अध्याय न होकर, नितान्त नई संस्कृति का प्रवर्तक होता है और ऐसा कभी ही होता है।] तब भी अतीत या परम्परा का श्रेष्ठतम, नये सन्दर्भ में नई अर्थवत्ता देता है, नये का अंग बन जाता है।

८. छायावादोत्तर काल के काव्य को 'नई कविता', या आधुनिक हिन्दी काव्य का द्वितीय चरण कहा जा सकता है। यह एक ही साथ 'प्रतिबद्ध-चिन्तन' 'व्यक्ति-केन्द्रित-चिन्तन,' 'मुक्त-चिन्तन' और 'विकेन्द्रित-चिन्तन' का काव्य है। इस विविध चिन्तन को सुविधा के लिए 'नव-चिन्तन' कहा जा सकता है।

इस काल के आरम्भिक वर्षों में समाजवादी एवं मनोविश्लेषण शास्त्रीय स्थापनाओं से अनावृत्त यथार्थ के नये आयामों को वाणी देने का उपक्रम है। कुछ वर्षो तक 'प्रगति' एवं 'प्रयोग' शब्द ('शीलता' के रूप में) प्रचलित रहे और फिर 'वादों' में परिणत हो गये। दोनों वादों के पक्षधरों में कटु वाग्युद्ध होता रहा और मानव 'अपरिभाषित' एवं उपेक्षित रहा। एक ओर वह समूह में खो गया दूसरी ओर विकृतियों में (खण्ड-खण्ड हो) विलीन होने लगा।

'नई कविता' आन्दोलन में इन दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य अनेकों (अस्तित्ववाद, ऊलजलूलवाद, आदि) दृष्टियों के अलग-अलग या सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफलन है। 'यथार्थ मानव' के रूप में 'लघुमानव' ही नहीं 'क्षुद्र मानव' के चित्रण पर भी गर्व है। कभी क्षुद्र वृत्तियों को 'भद्रता और शालीनता' के आवरण में छिपाया जाता था, आज विश्वासघात, नीचता, कायरता आदि को मानव की सच्ची प्रकृति कहकर, सद्वृत्तियों को (मुखौटा समझकर) झुठलाया जा रहा है। प्राचीन काव्य में 'शाश्वत सत्य' का चित्रण होता था, आधुनिकता के प्रथम चरण में 'युग सत्य' का, और आज 'व्यष्टि सत्य' और 'क्षण सत्य' पर आग्रह है।

९. अन्ततः चिन्तन की (या किसी भी वाद-विशेष की) उत्कृष्टता या अपकृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उस चिन्तन द्वारा उभरने वाली मानव-प्रतिमा, पूर्ववर्ती चिन्तन-धाराओं की अपेक्षा अधिक तार्किक, अधिक तथ्यपरक और अधिक पुरस्कारक है या नहीं? यदि उत्तर सकारात्मक है तो चिन्तन उत्कर्षक माना जायगा, नकारात्मक है तो अपकर्षक। उपेक्षित या नवान्वेषित का प्रवक्ता होना उदात्त-कर्म है, पर ज्ञात का निषेध करके नहीं, अतिक्रमण करके; उसे विस्तार और गहराई देकर।

अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कत्य	कल्प	१	नीचे से ३
आनी	अपनी	२	नी० से २
असाद	प्रसाद	३	नी० से २
विशेष........ —तुलनीय गीता, १८, २३–२५	[विशेष........ —तुलनीय गीता, १८, २३–२५]	४	दस पंक्तियाँ कोष्ठक में
प्रकीतिता	प्रकीर्तितो	४	नी० से ४
अध्याय, पृष्ठ २५१ चतुर्विश	चतुर्विश अध्याय	४	नी० से २–३
प्रतिमा	प्रतिभा	६	नी० से २
देवी	दैवी	९	२
पार्वात्य	पौर्वात्य	११	९
वर्म्माद्धि	वर्म्यद्धि	१२	नी० से ४
वोतित	द्योतित	१६	नी० से १२
पुरा	पुर	१९	नी० से १
उत्कटेन्च्छा	उत्कटेच्छा	२२	४
लोकापगमानिता	लोकापगामिता	२३	९
देश—प्रेम	देश-प्रेम	२३	१७
से	इसे	२६	नी० से १०
अनुमति	अनुभूति	२६	नी० से ७
सकती।	सकती है।	२७	१
नियन्त्रण	निमन्त्रण	२७	९
flows	blows	२९	नी० से ४
Imnortality	Immortality	२९	नी० से २
गिल्ह	गिल्ड	३३	३
दर्क	तर्क	३३	९

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
स्त्रेण	स्त्रैण	३५	१०
नैह	नेह	३७	नी० से १
प्रभाताओं	प्रमाताओं	३८	७
नियामातीत्य	नियमातीत्य	३८	१०
घनात्मक	घनात्मक	३९	नी० से १०
पृष्ठ वाराणसी ५६,	पृष्ठ ५६, वाराणसी	४०	नी० से २
हाज़री	हज़ारी	४०	२
मन्दा कान्ता	मन्दाक्रान्ता	४२	८
स्त्रेणता	स्त्रैणता	४२	नी० से ७
ऊर्जस्थित	ऊर्जस्वित	४३	४
इयता	इयत्ता	४३	१३
check at	check and at	४५	नी० से १२
हयता	इयत्ता	४८	७
ऊर्भि	ऊर्मि	४८	१८
पर्यषणा	पर्येषणा	४९	नी० से २
पुनराक्ष्यानां वाचमर्थो	पुनराद्यानां वाचमर्थो	५४	नी० से १५
उत्थस्यते भमनु	उत्पत्स्यते मम नु	५५	नी० से ७
शब्द-युग	शब्द-युग्म	५६	नी० से ५
प्रयत्न और	प्रयत्न भी	५९	नी० से १४
में एक	एक	६०	११
में	से	६३	नी० से ८
मभार	ममार	६४	७
क्षातृत्व	दातृत्व	६६	नी० से ४
कर्म	वर्मा	६९	नी० से १
हताश	हताशा	७१	नी० से १४
बँध	बींध	७६	१६
एव	एवं	७८	२
महा	यह	७९	१७
गरिमा ने	गरिमा के	८०	१४
में हम	से हम	८०	१८
विषताओं	विषमताओं	९२	नी० से १४

पुस्तकालय

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सत्व	सत्य	९२	नी० से ३
चिन्तन-मत	चिन्तन-गत	९६	१५
मास	माँस	९६	नी० से ७
विकृति	विकृत	९८	११
के 'आनन्द'	'आनन्द'	१०३	६
विपय	विषम	१०३	१७
—। उस के	है। उसके	१०५	नी० से ४
औज	ओज	११०	१०
सकट	संकट	११२	६
निराला	निराशा	११३	६
निकटतम	विकटतम	११५	नी० से १५
विजय	विजन	१३०	नी० से ९
अलम	अलभ	१३०	नी० से २
वाव	वोध	१३३	४
वस	सब	१३३	नी० से ७
भी पन्त के साथ	पन्त के साथ भी	१३६	८
भी अरविन्द दर्शन के	अरविन्द दर्शन के भी	१३६	१२-१३
को	हो	१३६	नी० से १२
समादिक्	समदिक्	१३६	नी० से ७
वंदें	बूँदें	१४०	१५
आनन्द से	आनन्द के	१४४	८
मुख	सुख	१४४	नी० से ६
में	से	१४५	नी० से ११
उभारने	उभरने	१४६	नी० से ९
में	से	१४७	१२
मेंटगी	भेटूँगी	१४८	१३
मानव	मानस	१५०	नी० से १०
है	हे	१५१	१
तब	तव	१५६	५
रेखा	रेख	१६१	नी० से ७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
—व की	में कवि की	१६५	६
अन्तरीय	अन्तरीप	१६५	११
रहै	रहे	१६६	१२
इयता	इयत्ता	१६६	१३, १५, १७
स्वर	स्वैर	१६६	२
कोई कवि	कोई नया कवि	१६६	१७
कोंच	क्रौंच	१६६	नी० से ५
वत्मीक	वल्मीक	१६६	नी० से ५
इयता	इयत्ता	१७०	२
'तथ्ता'	तथता	१७३	१
संसृति	संसृति के	१७३	नी० से ६
घर········दया	घर कुटीर का दिया	१७४	४
सव से·······।	सव से लम्बी है।	१७४	७
आस्थानक	आख्यानक	१७४	१७
साधता	साधना	१७८	१०
प्रश्न	पक्ष	१७८	१३
अमिधा	अभिधा	१८५	१७
आविभाव	आविर्भाव	१८७	१५
चिन्तन	चिन्तक	१८९	नी० से ६
मानव भविष्य	मानव-भविष्य	१९२	९
माने हैं।	माने जाते हैं।	१९४	नी० से ७
हीडेगार	हीडेग्गर	१९४	नी० से ९
निरस्वत्व	निःस्वत्व	१९९	२
सम्बन्धता	सम्बद्धता	२००	५
जागरुकता	जागरूकता	२००	६
जीवन	जीवट	२००	१२
में तर्क संगति	में न तर्कसंगति	२००	१६
Hinclifte	Hinchliffe	२००	नी० से ७